ISSN 2347-8004 Bodhi Path
पंजीकरण संख्या-DELBIL/2011/41024

★ जुलाई 2016
★ अंक - ग्यारहवां
★ द्विभाषिक छमाही पत्रिका

बोधि-पथ

Budha Education Foundation
9968262935, 8447637374

ISSN 2347-8004

बोधि–पथ

वर्ष : जुलाई 2016, अंक: 11 द्विभाषिक छमाही पत्रिका

प्रबंधक
भिक्खु विश्वबन्धु, चैयरमेन,
बुद्धा ऐजूकेशन फाउण्डेशन (ट्रस्ट)

संरक्षक
डॉ आई.एन.सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर,
बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

परामर्श दाता
प्रो. हीरापॉल गंगनेगी, विभागाध्यक्ष,
बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।
प्रो.के.टी.एस.सराओ
बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

सम्पादक
डॉ संघमित्रा बौद्ध,
बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

उप–सम्पादक (अंग्रजी)
डॉ अमिता कपूर
एसोसिएट प्रोफेसर,
शहीद राजगुरू कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय।

उप–सम्पादक (हिन्दी)
डॉ एच. के. बालूजा
बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।
वेबसाइट व्यवस्थापक
श्री नरोत्तम सिंह
लेखक व हीलर

राज्य ब्यूरो
दिल्ली, राजस्थान, हरियाणा, पंजाब, उत्तरांचल,
उत्तराखण्ड, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार,
वेस्ट बंगाल।

वितरण
बुद्धा ऐजूकेशन फाउण्डेशन (ट्रस्ट),
मैत्रेय बुद्ध विहार,
तीसरी मंजिल, एच–2/48 सै॰16,
रोहिणी, दिल्ली–110089

नोट : सम्पादक मण्डल के नियुक्त सभी पदाधिकारी अवैतनिक एवं परिवर्तनीय हैं ।

बोधि–पथ पत्रिका में प्रकाशित सामग्री लेखकों के निजी विचार हैं । आवश्यक नहीं कि प्रकाशक व सम्पादक उनसे सहमत हों ।

प्रकाशक, मुद्रक एवं स्वामित्व धारक **भिक्खु विश्वबन्धु** के लिए स्टार फार्म, 8710, रोशनारा रोड, सब्जी मंडी, दिल्ली–110007 से मुद्रित एवं बुद्धा ऐजूकेशन फाउण्डेशन (ट्रस्ट), मैत्रेय बुद्ध, विहार, तीसरी मंजिल, एच–2/48, सै. 16, रोहिणी, दिल्ली–110089 से प्रकाशित । सम्पादक का नाम और पता : **डॉ. संघमित्रा बौद्ध,** तृतीय तल, एच–2/48, सै. –16, रोहिणी, दिल्ली–110089

अनुक्रमणिका

संपादकीय	**डॉ संघमित्रा बौद्ध**	01
बौद्ध धर्म के मार्गदाता	**भिक्खु विश्वबन्धु**	03
धर्मान्तरण नहीं वापसी	**डॉ0 भिक्षु प्रज्ञापाल**	07
बुद्ध की मानवतावादी दृष्टि : एक समीक्षा	**डॉ. हरीश कुमार बालूजा**	10
बौद्ध धर्म में कर्म में कर्म और पुनर्जन्म– एक अध्ययन	**शोधार्थी–निर्दोश कुमार**	12
बुद्ध सुभाषितरन्त : धम्मपद	**शोधार्थी–एकता जैन**	14
प्ररेक प्रसंग		
बुद्ध और धर्म	**आचार्य सत्यनारायण गोयन्का जी**	17
धन्य हुई सुजाता!	**डॉ॰ संघमित्रा बौद्ध**	19
Dr. B.R. Ambedkar and His Conversion to Buddhism	Sunny Kumar	21
Know Vipallasa to Conquer Asava	Narotam Singh and Amita Kapoor	23
Universal Body : Entwined Six Elements	Dr. Anant	27
Survival Along the Nest of Spies	Lhundup Tsomo Bhutia	31
Difference in the Philosophies of Theravada and Mahayana Schools of Buddhism	Kanika Kaur Sarao	35
The Role of Buddhist Morality in mental training & Spiritual Attainment	Dr. Seema Bharti	39
The Status of Dalit Women in India's Caste Based System	Rachna	41

निवेदन

पत्रिका 'बोधि–पथ' की सदस्यता के लिए आप अपने मित्रों, परिचितों एवं अन्य को भी सदस्य बनाकर सहयोग करें। पूर्व ग्रहित सदस्यों की सदस्यता इस अंक के साथ समाप्त हो गई है। कृपया करके अपनी सदस्यता शुल्क की राशि को खाता न0 – 3007101001960, केनरा बैंक, रॉकफिल्ड पब्लिक स्कूल, सै. 16, रोहिणी, दिल्ली–110089 में जमा करने का कष्ट करें। ताकि राशि सहयोग द्वारा पत्रिका का सुचारू रूप से प्रकाशन हो सके। और अपने अमूल्य सुझाव एवं हिन्दी लेख Kundli एवं अंग्रेजी लेख को भी ई–मेल : sanghmb@gmail.com पर भेजने का कष्ट करें।

e-mail : darshitraders@gmail.com, sanghmb@gmail.com
दूरभाष न.– 9968262935, 08447637374, 9810319200
प्रति मूल्य : 50रु॰ सदस्यता शुल्क : वार्षिक 100रु॰, द्विवार्षिक 200रु॰, आजीवन 5000रु॰

संपादकीय

सम्पादक की कलम से ...

Mkñ I?kfe=k ck)

युग प्रर्वत्तक : बोधिसत्व

बोधिसत्व बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी की 125वीं जयंती की आप सभी पाठकों को हार्दिक शुभकामनाएं, इस शुभावसर पर बोधि–पथ का विशेषांक आप सभी के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। महामानव बाबा साहब 20वीं शताब्दी की महान विभूति थे। 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकनुकम्पाय' चिन्तन और कार्य करने वाले महामानव बहुत नहीं हुआ करते हैं। बाबा साहब ऐसे ही विरल महापुरुषों में से एक महापुरुष थे। जिनके बारे में आज पूरा विश्व जानने के लिए उत्सुक है तथा उनके द्वारा बताये गए मार्ग का अनुसरण करने के लिए सम्पूर्ण मानव जाति प्रतिबद्ध दिखाई देती है। विद्वानों ने अपने विद्वतापुर्ण तथा ज्ञानवर्धक लेख भेज कर हमें जो उत्साहित किया है उसके लिए हम उनका हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। आशा है, भविष्य में भी उनका सहयोग इसी शाँति मिलता रहेगा।

डॉ. अम्बेडकर के जीवन की कहानी मानवीय अधिकारों के विजेता के संघर्ष की कहानी है। उन्होंने मानव सम्मान के लिए अविरल संघर्ष किया। वे शोषित एवं पीड़ित लोगों के उधारक थे। वे सच्चे अर्थो में गुदड़ी के लाल थें यद्यिप विश्व के इतिहास में अनेकों ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें अत्यन्त निम्न–स्तर से उठकर लोग उच्चतम स्तर तक पहुँचे हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन एक साधारण किसान के पुत्र थे। स्टालन के पिता एक निर्धन मोची थे। परन्तु फिर भी शायद ही कोई महापुरुष बाबा सहाब के समान प्रतिकूल परिस्थितियों में जन्मा और पला हो।

कहा जाता है कि मनुष्य अपनी परिस्थितियों की उपज है। डॉ. अम्बेडकर के सम्बन्ध में यह युक्ति सर्वथा सत्य प्रतीत होती है। उनके विचारों, उनके दर्शन तथा उनके कृत्यों पर उनकी परिस्थितियों की स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है। चूँकि वे एक ऐसे परिवार में जन्मे जिसे जन्म से ही अयोग्यताओं का सामना करना पड़ा। एक मामूली परिवार में जन्म लेना, एक अछूत के रूप में जीवन प्रारम्भ करना, युवा काल में विभिन्न स्थानों पर अपमानित होना, प्रत्येक पग पर अनेक कठिनाइयों का सामना करना आदि बड़े ही साहसिक एवं प्रशांसनीय कार्य हैं।

बाबा सहाब अपने अथक एवं कठोर परिश्रम, दृढ़ निश्चय, आत्मविश्वास व महत्त्वकाँक्षा के बल पर भारत के संविधान निर्माता के ऊँचे पद तक पहुँच सके। वे बहुमुखी प्रतिभा के थे। उन्होंने अपने करोड़ों भाइयों को दासता, छुआछूत और शोषण से मुक्त किया। सदियों से चली आ रही सामाजिक गुलामी से बाबा सहाब ने अछूतों को छुटकारा दिलाया। मानव इतिहास में, यह आश्चर्यजनक उपलब्धि थी। इसलिए आज इस देश के सच्चे सपूत, एक अछूत जीवन से प्रारम्भ होने वाले महान् व्यक्ति, डॉ. बाबा सहाब अम्बेडकर को, भारत–भूमि के इतिहास में शिक्षाविद्, अर्थशास्त्री, लेखक, वकील, नेता, योद्धा, कानूनवेत्ता, समाज–सुधारक, राजनीतिज्ञ, राजनेता, दार्शनिक और उद्धारक के रूप में समझा तथा सम्मानित किया जाता है।

निस्सन्देह डॉ अम्बेडकर एक गम्भीर लेखक, विचारक और महान् चिंतक थे। उनके सभी ग्रन्थ गहन अध्ययन और विशद विद्वता के परिचायक हैं। यदि उनका स्वास्थ्य अच्छा रहता तो संभवतः वह और भी अधिक गम्भीर ग्रन्थ दे सकते थे। वह स्वयं एक चलता–फिरता ग्रन्थालय थे। आत्म–विश्वास तथा निर्भीकता, ये दोनों गुण उनकी असाधारण ज्ञान–साधना के स्वाभविक परिणाम थे। बाबा साहब का व्यक्तित्व, कृतित्व, जीवन तथा दर्शन, सभी असाधारण थे। वह कोई व्यक्ति नहीं थे, बल्कि स्वयं एक संस्था थे ।

बाबा सहाब ने संसार की दुःखमयता, जीवन की क्षणभंगुरता और जगत् की अनिश्चितता को भलीभांति समझ लिया था और यही कारण है कि वे बुद्ध–धम्म–सघं की शरण में गए। उन्होंने यह सत्य जान लिया कि संसार में दुःख है और उसका अंत करना ही, मानवी जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य है। इस सत्य को स्वीकार करके, दृढ़–संकल्प किया कि वे अपना शेष जीवन मनुष्य–मात्र की सेवा में समर्पित करेगें। वे दार्शनिक गुत्थियों में नहीं उलझे और यह विचार व्यक्त किया कि मानव–समाज का कल्याण, मैत्री, करुणा, समता तथा बन्धुत्व से ही सम्भव है। अतः एव जब से उन्होंने बौद्ध धर्म अंगीकार किया, तब से मानव प्राणियों के उद्धार का संकल्प लिया। प्राणिमात्र के प्रति करुणा, श्रद्धा, और प्रेम उनमें प्रगाढ़ हो गया। यही कारण है कि उनके अनुयायी बोधिसत्व के रूप में सम्मानित किया। उनमें स्वार्थ–भाव किंचितमात्र नहीं था। वे तो अपने जीवन को बहुत पहले से ही दीन–दुःखियों की सेवा में अर्पित कर चुके थे। उनमें मोक्ष–प्राप्ति की इच्छा नहीं थी। वे प्राणिमात्र की मुक्ति के लिए दृढ़–संकल्प हो चुके थे।

इस महान् समाज सुधारक को किसी संकुचित दृष्टि से आंकना उचित नहीं होगा क्योंकि आज उनके करोड़ों अनुयायी उन्हें 'बोधिसत्व' के रूप में स्वीकार करके सम्मानित करते हैं। उन्हें मानव–देवता की दृष्टि से पूजते हैं। पीड़ित नर–नारियों का जो मार्ग–प्रशस्त करे उन्हें विभिन्न दुःखों तथा दासता से मुक्त करे, वही तो बोधिसत्व होता है। वह निःस्वार्थ भाव से समस्त मानव प्रणियायों को सम्यक् मार्ग पर ले जाता है। बौद्ध–धर्म में दीक्षित होने के बाद, बाबा सहाब ने यह प्रतिज्ञा ली कि वह 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' के महान् आदर्श, करुणा एवं मैत्री का अनुसरण करते हुए, कुमार्ग–गामी मानव प्राणियों को सुमार्ग पर लाने का सम्यक् प्रयत्न करेंगे। साथ ही, बाबा साहब का सम्बोधि व्यक्तित्व मानव–प्राणियों को न केवल भौतिक प्रगति की दिशा में, अपितु आध्यात्मिक उत्थान के मार्ग में भी अनुप्रेरित करता है और इस दृष्टि से, उनका जीवन एवं दर्शन विविध प्रकार से, सभी व्यक्तियों के लिए, नव–निर्माण तथा परमार्थ की सजग प्रक्रिया में युगों–युगों तक प्रेरणास्रोत बना रहेगा।

भवतु सब्ब मंगलं!

डॉ संघमित्रा बौद्ध

We are what we think.
All that we are arises with our thoughts.
With our thoughts we make the world.

- Budhha

अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।
अत्तना'व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं।।

व्यक्ति अपना स्वामी आप है, भला दूसरा कोई उसका स्वामी क्या होगा? अपने ही को अच्छी तरह दमन कर लेने से वह दुर्लभ स्वामी निर्वाण को पाता है।

बौद्ध धर्म के मार्गदाता

भिक्खु विश्वबन्धु (चैयरमेन) बुद्ध ऐजूकेशन फाउन्डेशन ट्रस्ट

बोधिसत्व बाबा साहब डा0 अम्बेडरकर ने बौद्ध धर्म को अन्य धर्मो से भिन्न बताया है क्योंकि यह साम्प्रदायिकता की बेड़ियों से बँधा हुआ नहीं है। इसमें लौकिक शक्तियों की परिकल्पना नहीं है और न उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए कोई नियम हैं। इसमें केवल शुद्ध नैतिक चर्या का निष्पादन है जो व्यक्ति और समन्वय पर आधारित समाज के लिए कही गयी है। जिसका उद्देश्य यह है कि हम शुद्ध आचरण द्वारा संसार का पुननिर्माण करके विश्व शान्ति की स्थापना करें। यह शुद्ध आचार–संहिता पंचशील, अष्टांगिक–मार्ग और पारमिताओं पर आधारित है। क्योंकि यह एक ऐसी जीवन–विधि हैं जो मनुष्य को सदाचारी बनाती हैं।

बाबा साहब ने बौद्ध धर्म को मौलिक रूप से समझा ही नहीं, बल्कि उन्होंने उसके अनुकूल ही जीवन–यापन किया। इन सभी गुणों से परिपूर्ण होने के कारण उन्हें 20वीं शताब्दी में बोधिसत्व की उपाधि से विभूषित किया गया। बोधिसत्व वह प्राणी होता है, जो पूर्ण अनासक्ति के साथ अपना सर्वस्व न्यौछावार करके प्राणिमात्र के कल्याण के लिए सत्कर्म–रत रहता है। वह हमेशा 'स्व–विषय' से पूर्णतः चिन्तामुक्त रहता है तथा लोकोपकार के लिए बहुजन–हिताय बहुजन–सुखाय की भावना से ओत–प्रोत रहता है। उसका सम्पूर्ण जीवन ऐसे ही परोपकारी कार्यो से परिपूर्ण है। अतः बाबा साहब द्वारा आरम्भ किए गये धम्म–दीक्षा दिवस अशोक विजया दशमी के पावन अवसर पर उन्होंने बुद्ध–धम्म–सघं शरणागन एवं पंचशील ग्रहण करके बौद्ध धर्म को अंगीकार किया। प्रस्तुत लेख द्वारा इन पुण्यमय कार्यो एवं उनकी 125वीं जयन्ती के ुभावसर पर मैं उनके प्रति हृदय सें अपनी श्रद्धाजंलि अर्पित करता हूँ।

बुद्ध को प्रणाम

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स। (तीन बार)

अर्थात् नमस्कार है उनको जो भगवान् हैं, अरहंत हैं, सम्यकसम्बुद्ध हैं।

यह नमस्कार गुणों का हुआ। सम्मान गुणों का हुआ। ऐसे गुण धारण करने वाला व्यक्ति बुद्ध कहलाता है। जो व्यक्ति सम्यक् सम्बोधि द्वारा बुद्धतत्व प्राप्त कर लेता है वह अनंत गुणों से परिपूर्ण हो जाता है। तथा उसमें विशेष सद्गुण होते हैं जो इस प्रकार हैं :

भगवान् – वह भगवान् हो जाता है यानि अपने अन्दर के समस्त राग, द्वेष और मोह भग्न कर लेता है और इसी जीवन में विमुक्ति–सुख का जीवन जीता है।

अरहंत – वह अरहंत हो जाता है। अपने सभी अरियों का यानि शत्रुओं का हनन कर लेता है। कौन है शत्रु ? कोई बाहरी व्यक्ति हमारा शत्रु नहीं हुआ करता। हमारे अपने अन्दर के मनोविकार, ईर्ष्या, द्वेश, लोभ, मोह, क्लेश आदि ही हमारे शत्रु होते हैं। इन्हीं शत्रुओं का हनन करके ही व्यक्ति अरहंत होता है, बुद्ध होता है।

सम्यक् सम्बुद्ध – ऐसा व्यक्ति स्वयं के प्रयास से अपनी ही प्रयोगशला में बोधि प्राप्त कर लेता है। जब तक सत्य को स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा न जान ले, तब तक केवल सुन लेने या पढ़ लेने से कोई व्यक्ति सम्बुद्ध नहीं हो सकता। बल्कि स्वयं अपनी प्रज्ञा द्वारा जान लेता है, वही सम्यक् सम्बुद्ध कहलाता है।

विशेषता – इस प्रकार जब भी हम नमस्कार सुत्र करें तो महत्व गुणों को ही दें उन गुणों के प्रति श्रद्धान्वित होकर मन में प्रेरणा जगाये और उन्हें अपने जीवन में अतारने के लिए प्रयत्नशील हो जाय तो किसी सम्प्रदाय में नहीं बँधेगें। गुणों से बँधेगें। शुद्ध धर्म से बँधेगें। गुण सब के लिए होते हैं। शुद्ध धर्म सब के लिए होता है। अतः यथाशक्ति शुद्ध धर्म धारण करके अपना जीवन सुखमय बनायें।

त्रिशरण

'त्रि–शरण' बौद्ध पद्धति का पारिभाषिक शब्द है। यह त्रिविध है। इसके अन्तगर्त बुद्ध, धम्म और संघ का समावेश हैं। इन तीनों शरणों को ही शरणगमन कहा जाता है। शरण–गमन ही बौद्धों की प्राथमिक प्रक्रिया हैं। क्योंकि भगवान बुद्ध द्वारा प्रतिपादित मार्ग पर चलने के लिए जो प्रथम पदनिक्षेप है, वह शरणगमन हैं। जो व्यक्ति कुशल चित्त द्वारा भगवान के पथ का

अनुसरण करने की इच्छा व्यक्त करता है तो वह त्रिशरण–गमन को ग्रहण करते हुए कहता है–

"बुद्धं सरंण गच्छामि।
धम्मं सरणं गच्छामि।
संघं सरणं गच्छामि।"

बुद्धं सरणं गच्छामि – इस प्रथम शरण का अर्थ है, कि मैं बुद्ध अर्थात् ज्ञान की शरण में जाता हूँ। बुद्ध किसी व्यक्ति का जातिगत या वंशागत नाम नहीं हैं, बल्कि एक विशिष्ट उपलब्धि का नाम है। यह उस महान पुरूष की उपलब्धि है, जिसने चार आर्य सत्यों को जान कर सर्वज्ञता को प्राप्त कर लिया है, राग, द्वेष, मोह, लोभ तथा क्लेशों से पूर्णत विमुक्त होकर परम सम्बोधि को प्राप्त कर, सब कुछ यथार्थ रूप से जानकर उपदेश करता है। ऐसा महान् पुरूष ही बुद्ध कहलाता हैं। बुद्ध को शरणगमन करने का अर्थ है बुद्ध को अपना आदर्श स्वीकार करना। बुद्ध ज्ञान का प्रतीक है। जब हमारे मन में ज्ञान का प्रकाश प्रकाशित हो जाता है तो स्वभावतः हमारे मन (अन्दर) का अन्धकार दूर हो जाता हैं। अर्थात् हमारे मन के विकार, क्लेश, अज्ञानता और कुसंस्कार आदि समाप्त हो जाते है। इन विकारों के विद्यमान होने से हमारे मन में धूल जम जाती है। इन विकारों के धुलने के पश्चात् हमारा मन निर्मल व स्वच्छ होकर अच्छे–बुरे, कुशल–अकुशल, सही–गलत, शुभ–अशुभ आदि की पहचान करने लगता है। इस ज्ञान के प्रकाश द्वारा सांसारिक वस्तुओं का प्रभाव हमारे ऊपर नहीं होता। हम दुःख रहित हो जाते है। अतः बुद्व–शरण ग्रहण करने से व्यक्ति का जीवन प्रकाशमय हो जाता है।

धम्मं शरणं गच्छामि – भगवान बुद्ध के अनुसार प्रकृति का शाश्वत नियम ही धर्म है। जो प्रकृति का अटूट नियम है, उसकी शरण में जाना। धर्म को धारण करना अर्थात् उसके अनुकूल जीवन यापन करना ही धर्म है। अतः जो धारण करे वह धर्म है। अब प्रश्न उठता है कि क्या धारण करें? प्रकृति के अटूट नियम के सन्दर्भ में कहा गया है जैसे– आग का धर्म जलना और जलाना, जल का धर्म शीतल होना व शीतल करना, सूर्य का धर्म प्रकाश और उष्णता प्रदान करना, जीव का धर्म जन्म लेना और मरना है। यदि ऐसा न हो तो आग आग नहीं, जल जल नहीं, सूर्य सूर्य नहीं तथा जीव जीव नहीं। क्योंकि यही उनका नैसर्गिक धर्म है, यही उनका स्वभाव है जिसे वे धारण करते हैं। प्रकृति का यह धर्म सभी जीवों के लिए एक समान है। यह धर्म किसी सम्प्रदाय, जाति, वर्ग, भाषा, प्रांत आदि से जुड़ा हुआ नहीं है। बल्कि यह धर्म लोककल्याण के लिए है। भगवान बुद्ध इसी कल्याणकारी धर्म के प्रज्ञापक थे। यह धर्म सार्वजनिक सार्वदेशिक, सार्वकालिक है। यह हमेशा बना रहता है।

धर्म जीवन का मूल आधार है जब मनुष्य प्रकृति के नियमों के अनुकूल जीवन यापन करता है तो उससे स्वभावतयाः अकुशलन कार्य का होना रूक जाता है। उससे कोई अनिष्ट नहीं होता और कुशलमय संगीत चारो और सुनाई देने लगता हैं। अगर व्यक्ति के विचार या कार्य नियम के विरूद्व होगें तो सभी अकुशल होगा तथा दुःख रूपी छाया उसे घेरे रहेगी। भगवान बुद्ध की शिक्षा "धर्म और विनय" कहलाती है? विनय क्या है? क्या धारण करने योग्य है? क्या धारण नहीं करना है? क्या करणीय हैं? तथा क्या अकरणीय है? इन सभी प्रश्नों के उत्तर में उन्होने कहा – कुशल चित्तवृत्तियों को धारण करना ही धर्म है और अकुशल चितवृत्तियों को निवारण ही धर्म हैं। यही भगवान की शिक्षा है। उनकी शिक्षा शीलाचरण पर आधारित है। शीलाचरण का अर्थ पंचशीलों का पालन करना है। द्धइन पाँच शीलों का वर्णन इसी लेख में आगे वर्णित किया गया है।ऋ भगवान बुद्ध का कथन है कि दुःख कोई अपराध नहीं हैं, बल्कि अकुशल होने की सूचना है। कोई दण्ड नहीं देता है। मनुष्य अपने कर्म अनुसार फल भोगता है। प्रकृति के नियम का उल्लंघन करने से दुःख होता है।

भगवान बुद्ध के अनुसार – जब मनुष्य नियम को जान लेगा, समझ लेगा तो ज्ञान के द्वार स्वतः ही खुल जाएगे। जब तक वह नियम को नहीं पहचानेगा, भटकता रहेगा। दुःख का मूल कारण है धर्म से कहीं डगमगा जाना। अतः प्रकृति के नियम अनुसार जीवन यापन करना ही धर्म है। जब धर्म की पहचान हो जाती है तो प्रज्ञा रूपी दीपक जलता है और प्रज्ञा रूपी प्रकाश से मनुष्य अकुशल मार्ग से वापस लौट आता है और सत्यता को अनुभव कर लेता है।

संघं सरणं गच्छामि – भगवान बुद्ध द्वारा बनाई गई वह प्रतिनिधिक संस्था जो बौद्ध धर्म के अनुयायियों और विशेषतः भिक्षुओं आदि के संबंध में आचार व्यवहार आदि के नियम की व्यवस्था करती थी, वह संस्था 'संघ' कहलाता था। इसलिए त्रिशरण–गमन के अर्न्तगत हम संघ की शरण को भी ग्रहण करते है। अर्थात संघ में जो भिक्षु तथा शीलवान विपश्यनामय प्रज्ञावान, होकर प्रकृति के नियम अनुसार जीवन–यापन करते हुए निर्वाण मार्ग पर अग्रसर है, हम उनकी शरण ग्रहण करते

हैं। वर्तमान में उपासक संघ लुप्त हो गया है। क्योंकि संघ की उत्पत्ति समाज के द्वारा किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए होती है। किन्तु आज न तो बौद्ध समाज ही है और न उपासक संघ ही विद्यमान है। अतः आज बौद्ध समाज की अनिवार्य आवश्यकता है। क्योंकि व्यवहारिकता के अनुसार संघ–शरण का अर्थ है कि बौद्ध उपासक सुसंगठित होकर एक–दूसरे की सहायता करते है। वे सभी धार्मिक सम्बन्धो से जुड़े हुए है। उन सभी के भगवान बुद्ध पिता समान है और धम्म उनकी माता समान है। वे सभी स्वयं ही संघ है। यही संघ–शरण है। जो बुद्ध, धम्म और संघ की शरण ग्रहण करता है वही मनुष्य बुद्ध उपासक कहलाता है।

पंचशील

भगवान बुद्ध के समय से ही पालनीय पाँच नैतिक नियमों को पंचशील कहते हैं। शील शब्द का अर्थ आधार या संयम होता है। शील सम्पूर्ण धम्माचरण का मूल आधार हैं अर्थात सभी कुशल धर्मो का आधार होने के कारण इन पाँच नैतिक नियमों को पंचशील कहा जाता है। त्रिशरण गमन के पश्चात इन पंचशीलों को ग्रहण किया जाता है। ग्रहण करने का अभिप्राय है कि मनुष्य को इन शीलों द्वारा जीवनयापन करना चाहिए। क्योंकि जो व्यक्ति पंचशील के अनुकूल अपना जीवन–यापन करता है उसी का मंगल होता है और जो मनुष्य शीलों के अनुकूल आचरण नहीं करता है तो उसका जीवन पशु समान होता हैं। शील के बिना समाज जंगल के समान है। क्योंकि शील धम्माचरण का ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण समाज के जीवन का मूलाधार है।

इस शीर्ष में पंचशील इस प्रकार हैः–

1. **'पाणातिपाता वेरमणी सिक्खापदं समादियामि'**

   अर्थात् मैं प्राणी हिंसा से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ। यह प्रथम शील है। इस शील में यह बताया गया है कि मानवमात्र को ही नहीं बल्कि किसी भी जीव को हानि नहीं पहुँचाना चाहिए। इस शील का सकारात्मक अंग 'मैत्री' हैं अर्थात् प्राणी हिंसा से विरत रहकर उनसे मैत्री द्धमित्रता, भाईचाराऋ बनाए रखना चाहिए। क्योंकि हिंसा अशान्ति की जननी है। हिंसात्मक विचारधारा से मनुष्य की सोचने की प्रक्रिया स्वतन्त्र नहीं रहती और मनुष्य अपने परिवार, जाति, साम्प्रदायिकता, प्रदेश और भाषा की दृष्टि से सोचने लगते हैं। इससे लोकोपकारी, राष्ट्रीय तथा लोकतान्त्रिक विचारों का दमन होता है। किसी न किसी रूप में आज सारा विश्व अराजकता के भय से आक्रान्त हैं। जब संतुलन बिगड़ता है तो अराजकता पनपती है। सम्पूर्ण विश्व का वातावरण तनाव और नफरत को ज्वाला से झुलस रहा है तथा प्रत्येक साम्प्रदायक अपने साम्राज्य की स्थापना के लिए भोली–भाली जनता के मस्तिष्क को कुण्ठित कर रहा है। क्योंकि इन सम्प्रदायों की मान्यताएँ एक दूसरे से भिन्न है। इसलिए साम्प्रदायिकता के नाम पर अलगाव पैदा होते ही अराजकता पनपती है और इस प्रकार चारों और अशान्ति फैल जाती है। अगर हम अशान्ति का मूल कारण उपरोक्त अलगाव को समझे तो कदाचित गलत नहीं कर रहें होगे। हिंसात्मक मनोवृत्ति के कारण ही आज सम्पूर्ण विश्व बारूद के ढेर पर बैठा है। कभी भी द्वेष की चिंगारी से विस्फोट हो सकता है। समय रहते यदि इसे रोका न गया तो इसके विस्फोट से जो चिन्गारियाँ निकलेगी उससे मानवता के भस्म हो जाने का खतरा है। अब प्रश्न उठता है कि सम्पूर्ण विश्व में फैली हुई अशान्ति को कैसे समाप्त किया जाए। प्रथम शील द्वारा ही इए अशान्ति को हिंसा का त्याग करके 'मैत्री' अर्थात् मित्रता (सहयोग की भावना द्वारा समाप्त किया जा सकता है) जब मनुष्यों में मैत्री–भावना विश्व की तरह व्यापक होगी तो सम्पूर्ण विश्व मैत्रीमय हो जाएगा।

भगवान बुद्ध ने इस शील के अन्तर्गत प्राणी हिंसा सम्बन्धी जीविकाओं को अयोग्य ठहराया हे जैसेः– प्राणी का व्यापार, माँस का व्यापार, हत्यार का व्यापार क्योंकि इस अयोग्य जीविकाओं से विरत रहकर ही प्राणी मात्र से मैत्री भावना स्थापित की जा सकती है। जबकि जीविका के बिना जीवन धारण करना असम्भव है। मनुष्य को परिवार और स्वयं के पालन पोषण के लिए कोई न कोई जीविका ग्रहण करनी पड़ती है, परन्तु जीविका का उपार्जन उचित मार्ग से होना चाहिए, अनुचित मार्ग से नहीं। सच्ची जीविका को छोड़कर मिथ्या (झूठी) जीविका के द्वारा शरीर का पोषण करना अनुचित मार्ग हैं – दूसरों को कष्ट देकर, दूसरों का शोषण करके तथा दूसरों की हिंसा कर जीविका उपार्जन करना। समाज व्यक्तियों के समूह से बनता है। यदि व्यक्ति पारस्परिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपनी जीविका अर्जन करने में लगा रहे तो मानव–समाज का वास्तव में मंगल होता है तथा परस्पर मैत्री–भावना स्थापित की जाती है।

2. **'अदिन्नादाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि'**

अर्थात् मैं चोरी से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ। यह द्वितीय शील है। इसका अर्थ केवल चारी न करने तक ही सीमित नहीं है बल्कि लक्खणसुन्त में बुद्ध ने इन कार्यो को निंदनीय बतलाया है – तराजू की ठगी, कंस द्धबटवारेऋ की ठगी, मान द्धनापऋ की ठगी, रिश्वत, वंचना, कृतघ्नता (कुटिलता), छेद्न, वध, बन्धन, डाका, लूटपाट, शोषण की जीविका। इस शील का सकारात्मक अंग 'दान' है। चोरी से विरत रहकर दान का आचरण करना चाहिए। दान से अभिप्राय है योग्य पात्रों को दान करना। जैसेः– क्षमा–दान, अंग–दान, रक्त–दान, अन्न–दान, वस्त्र–दान, वैद्याकिय उपचार, शिक्षा–दान आदि।

3. **'कामेसु मिच्छाचारा वेरमणी सिक्खा पदं समादियामि'**

अर्थात् मैं पर–स्त्री गमनादि नीति कामाचार से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ। यह तृतीय शील है। इस शील के अन्तर्गत विवाहित जीवन में पति या पत्नी एक दूसरे के लिए विश्वसनीय बने रहे। इस शील का सकारात्मक अंग 'सन्तुष्टि' है। व्यभिचार से विरक्त रहकर, काम–वासनाओं पर नियन्त्रण रखकर 'सन्तुष्टि' का पालन करना चाहिए। क्योंकि पर स्त्री व पर–पुरूष गमन द्वारा एड्स जैसे भंयकर रोग से ग्रस्त होने का भय रहता है। अगर इस भंयकर रोग से कोई भी ग्रस्त हो जाता है तो उसकी तन–मन–धन तीनों प्रकार से तो हानि होती है साथ–साथ उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा को भी आघात पहुँचता है। इन्हीं सभी बातों को ध्यान में रखते हुए एड्स जैसे भंयकर रोग का निदान करके सम्पूर्ण विश्व की मानव–जाति को बचाया जा सकता है।

4. **'मूसावादा वेरमणी सिक्खा पदं समादियामि'**

अर्थात् मैं झूठ से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ। यह चतुर्थ शील हैं। इसका सकारात्मक अंग 'सत्यता' है। असत्य वाणी से विरत रहकर सत्यता का आचरण करना चाहिए। अर्थात् सम्यक् वाणी द्वारा मनुष्य मुँह को संयत रखकर झूठ, दूसरों की बुराई, अफवाह फैलाने, गाली–गलौज करने, कठोर वचन बोलने, मूखर्तापूर्ण व अनर्गल बातों से बच सकता है। इस शील का पालन करने से वाणी सार्थक, बुद्धि संगत तथा मधुर हो जाती है।

5. **'सूरामेरय मज्जपमादट्ठाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि'**

अर्थात् मैं नशीलें पदार्थो से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ। यह पाँचवा शील है। इस शील का अर्थ है नशीले पदार्थो का सेवन न करना तथा साथ ही नशीले पदार्थो को दूसरे लोगों को भी नहीं बेचना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस शील का सकारात्मक अंग 'स्मृति जागृति' है। अतः मादक पदार्थो के सेवन से विरत रहकर स्मृति का आचरण करना चाहिए। क्योंकि नशे में लिप्त मनुष्य अपनी स्मृति खो देता है। उसकी मानसिक स्थिति पागल जैसी हो जाती है। वह अपने होश–हवाश खो बैठता है तथा क्षय रोग, लीवर, कैंसर रोग आदि से पीड़ित होकर कष्टमयी जीवन व्यतीत करता है और तन–मन–धन तीनों प्रकार से उसकी हानि होती है। यदि किसी भी मनुष्य की ऐसी स्थिति रहेगी तो वह धम्म द्धधर्मऋ का आचरण कैसे करेगा? इसलिए मनुष्य को इस पाँचवे शील का पालन करते हुए अपनी स्मृति (जागृति) को सदैव बनाए रखना चाहिए।

यदि यह सभी बाते व्यक्ति को समझ में आ जाए तो वह शील–सदाचार का जीवन–व्यतीत कर सकेगा। इसमें अनेक कठिनाइयाँ आती है। अनेक विषम परिस्थितियाँ उसे शील को तोड़ने के लिए भी मजबूर कर देती है। इसका मुख्य कारण है कि उपासक अपने मन का मालिक नहीं हैं। वह अपने अनुसार कार्य करता है। पंचशील का मुख्य उद्देश्य मन को समाधिस्थ द्धनियन्त्रितऋ करना। क्योंकि मन को काबू में करना बहुत कल्याणकारी होता है। इससे व्यक्ति मन, वाणी तथा काय के दुष्कर्मो को करने से दूर रहता है।

भवतु सब्ब मंगलं

संदर्भ संकेत

1. बौद्ध उपासना तथा मंगल कार्यपद्धति, 8
2. निदान कथा , 68
3. मानक हिन्दी कोश, पाँचवा खण्ड।
4. बौद्ध उपासना तथा मंगल कार्य पद्धति, 11
5. श्रामणेर विनय, 1;5

धर्मान्तिरण नहीं वापसी

भिक्षु (डॉ॰) प्रज्ञापाल, शोधा-सहायक, पालि-हिन्दी शब्दकोश, नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा-803111

बाबासाहब भीमराव अम्बेडकर के द्वारा बौद्ध धर्म में दीक्षा लेने के उपरांत भारत में धर्मान्तरण एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ। इस धर्मान्तरण से दलित, बंचित, अस्पृश्य वर्ग में सामाजिक नव जागरण को एक दिशा मिली। यह आन्दोलन बौद्ध धर्म का भारत में धार्मिक पुनर्जागरण का युग लाया। समय–समय पर बौद्ध भिक्षु या उपासक बड़े–बड़े समारोहों का आयोजन कर धर्म परिवर्तन करते–कराते हैं, इस आयोजन में वैसे लोग शामिल होते हैं, जो लम्बे समय से हिन्दू रीति–रिवाज और परम्परा के पोषक रहे होते हैं। उनकी दीक्षा पंचशील और त्रिशरण के द्वारा बौद्ध संघ में दी जाती है, इस दीक्षा के द्वारा धर्म परिवर्तन कराया जाता है। बाबा साहब ने भी अपने पांच लाख अनुयाइयों के साथ धर्म परिवर्तन किया था। वह युग था परतंत्रता से सद्यः उन्मुक्त भारत की गुलामी विचार धारा का, जिस समय अध्ययन–अध्यापन का केन्द्र फ्रांस, जर्मनी और लंदन आदि स्थानों पर विद्वानों ने बना रखा था। भारतीय शोधार्थी शोध–साहित्य से अनभिज्ञ थे। ऊँच वर्ग के लोगों द्वारा किया गया शोध सत्ता के पृष्ठानुगामी था। इसलिए दीक्षा समारोह का नाम धर्म परिवर्तन या धर्मान्तरण रखा गया, जो शोधपरक अध्ययन–अध्यापन के बाद धर्म परिवर्तन नहीं वापसी सावित हुआ।

बौद्ध धर्म वापसी क्यों? इस प्रश्न का उत्तर साफ है। पहले बौद्ध परम्परा के अनुयायी ही भारतीय थे। बाद में आर्यो के आक्रमण से उनका धर्मान्तरण कराया गया और वैदिक या तथाकथित हिन्दू बनाया गया। पुनः बौद्ध धर्म में आना धर्मान्तरण नहीं, वापसी है। इस प्रकार हर दीक्षा समारोह वापसी समारोह ही है। ऐसे समारोह के लिए वापसी शब्द ऐतिहासिक और तर्कसंगत है परिवर्तन तो तब कहा जा सकता है जब नयी परम्परा या धर्म को अपनाया जाए। भारत के पिछड़ा वर्ग समाज जो भारत के मूल निवासी थे और उनका भारतीय धर्म था श्रमण धर्म, जिसे आर्यो ने जवरन परिवर्तन कराया। यह भारतीय भू–भाग में धर्म परिवर्तन था। आज लोग भुल चुके हैं कि मेरा मूल धर्म श्रमण धर्म था। श्रमण धर्म का तात्पर्य बौद्ध और जैन परम्परा से है। अतः आज बौद्ध धर्म स्वीकार करना घर वापसी है न कि धर्मान्तरण।

भारत में भारत की मूल सभ्यता का प्राकाट्य 1921 ई. में हुआ। इसके पूर्व यह विश्वास किया जाता था कि वैदिक धर्म भारत का प्राचीन धर्म है, जिसका जन्म ईसा से कई हजार वर्ष पहले हुआ था। रावी नदी के तट पर हड़प्पा की खुदाई के साथ यह धारणा निर्मूल हो गयी।[1] इस उत्खनन से स्पष्ट हो गया कि भारत धर्म और सभ्यता की दृष्टि से विश्व की अन्य प्राचीन सभ्यताओं के समकक्ष है और यह सभ्यता वैदिक संस्कृति के पूर्व पल्लवित हो चुकी थी। 1921 ई. में सिन्धु नदी के पश्चिमी तट पर लरकाना जिले में मोहनजोदड़ो की खुदाई से यह स्पष्ट हो गया कि चार सौ मील दूर पर स्थित ये दोनों स्थल भारत के प्राचीन सभ्यता के अवशेष हैं, जो वैदिक सभ्यता या धर्म से पहले के हैं।[2] इसके बाद 1936 ई. में चन्हुदड़ो का उत्खन किया गया, इन अवशेषों का अध्ययन करके विद्वानों ने उसकी संस्कृति को सिन्धु संस्कृति नाम दिया, जो वैदिक संस्कृति से प्राचीन संस्कृति थी, ऐसी स्थापना प्रतिपादित किया। वैदिक संस्कृति भारत में भारत के बाहर से आने वाली संस्कृति है और सैन्धव संस्कृति ही भारत की मूल संस्कृति है। इन स्थलों की खुदाई में जो सामग्री मिली है, उनके अध्ययन सें स्पष्ट है कि उस भारतीय संस्कृति में योग एक प्रमुख धार्मिक कृत्य था। वैदिक आर्यो में योग का कहीं नामोनिशान नहीं था। वे यज्ञ के द्वारा सभी धार्मिक कृत्य का सम्पादन करते थे।

भारत की मूल धार्मिक संस्कृति में योग महत्वपूर्ण था। सैन्धव वासी यति, योगी, मुनि कहे जाते थे, मैके को मोहनजोदड़ो से एक ऐसी मुद्रा मिली थी, जिस पर एक त्रिमुखी पुरूष एक चौकी पर योग मुद्रा में बैठा हुआ दिखाई देता है, निश्चित रूप से यह मुनि की मूर्ति है, जिसकी पहचान शिव के रूप में भी विभिन्न विद्वानों ने की है।[3] ये मुनि श्रमण परम्परा के योगी हैं। श्रमण भारत की प्राचीन भारतीय धर्म या संस्कृति है। ;ग्वेद में वातरशना मुनि का उल्लेख हुआ है।[4] जिसका अर्थ है– नग्नमुनि। इसके बाद आरण्यक में आकर तो श्रमण और वातरशना का एकीकरण भी उल्लिखित है। उपनिषद् में तापस और श्रमणों को एक बताया गया है।[5] इन सबका एक साथ विचार करने पर श्रमणों की तपस्या और योग की प्रवृति ज्ञात होती है। ऋग्वेद के बातरशना मुनि और यति भी ये ही हो सकते हैं। इस दृष्टि से श्रमण परम्परा में मुनि, यति या योगी का महत्त्व स्पष्ट है।

सिन्धु सभ्यता से जुड़े स्थलों की खुदाई में विभिन्न आकारों में छोटी–छोटी मुहरें प्राप्त हुई हैं जिनमें उपरी भाग में अभिलेख और नीचे के भाग में, वृषभ, व्याघ्र, गैंडा, हाथी, एकश्रेणी और मगर जैसे पशुओं के चिन्ह अंकित है, जो भारतीय मूल के धार्मिक पहचान हैं। वृषभ देव जैन धर्म के प्रथम तीर्थकर हैं, जो मूलतः भारतीय संस्कृति में पूज्य देवता के रूप में मान्य हैं जबकि आर्य संस्कृति के देवी देवताओं में घोड़े और सूर्य आराध्य देव के रूप में मान्य हैं। वृषभ देव के पूजक भारत के मूलवासी थे। वैदिक आर्य अग्नि, सूर्य और घोड़े की पूजा करते थे। सैन्धव सभ्यता में अग्नि, सूर्य और घोड़े का कोई चिन्ह नहीं मिलते हैं। आर्यो के द्वारा भारत भूमि पर आकर वृषभ देव की पूजा के स्थान पर सूर्य की पूजा प्रचलित किया गया। आर्यो ने मूल भारतीय को सांस्कृतिक रूप से गुलाम बनाया। हमलोग भी श्रमण परम्परा के देवों को छोड़कर आर्यो के देवी देवताओं की पूजा करने लगे। अगर आज कोई व्यक्ति वैदिक देवी–देवताओं को छोड़कर, जैसा की बाबा साहव ने अपने बाइस प्रतिज्ञाओं में चिह्नित किया है, स्वीकार करता है, यह धर्मान्तरण नहीं बल्कि वापसी है। वास्तव में पहले हमलोग श्रमण थे। अब श्रमण परम्परा को स्वीकार करते हैं। यह अपने धर्म में वापसी है।

आर्यो ने भारत भूमि में आकर जिनके साथ युद्ध किया उन्हें दास दस्यु जैसे नाम दिये हैं। ये दास दस्यु पुर में रहते थें और उनके पुरों को नाश करके आर्यो के मुखिया इन्द्र ने पुरन्दर की पद्वी को प्राप्त किया। उसी इन्द्र ने यतियों और मुनियों की भी हत्या की है।6 यही यति और मुनि भारत के मूलवासी थे जो दास दस्यु थे। इन दास दस्यु का धर्म श्रमण धर्म था। यही धर्म दीर्घकाल के प्रवाह में बहता हुआ कई शाखा प्रशाखाओं में विभक्त हो गया था। प्राचीन बौद्ध और जैन शास्त्रों में विविध प्रवाहों को सूत्रबद्ध करके श्रमण और ब्राह्मण इन दो विभागों में बांटा गया है। इनमें ब्राह्मण वैदिक संस्कृति के अनुयायी और शेष सभी का समावेश श्रमण में होता था। आज बाह्मण धर्म को छोड़कर कोई व्यक्ति बौद्ध धर्म अपनाता है, तो इसे वापसी कहा जायगा न कि धर्मान्तरण। इस प्रकार बौद्ध धर्म स्वीकार करना वैचारिक गुलामी से स्वतंत्रता प्राप्त करना है।

आर्यो के भारत आगमन के साथ ही (4000 ई. पू. से 1750 ई. पू. तक) भारत भूमि पर पहले से रह रहे श्रमण परम्परा का विरोध वैदिक या ब्राह्मण परम्परा से चला आ रहा है। पतंजलि के उस वक्तव्य से भी इसकी पुष्टि होती है जिसमें कहा गया है कि श्रमण और ब्राह्मणों का शाश्वतिक विरोध है।[7]

भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन से भी यह स्पष्ट होता है कि संस्कृत कभी भी भारत भूमि पर जन भाषा के रूप में व्यहृत नहीं हुई है। भाषा का लिखित दास्तावेज के रूप में जो सामग्री प्राप्त होती है उनमें मुहरें और शिलालेख सबसे प्राचीन हैं। सैन्धव सभ्यता के मुहरें अभी तक पढ़े नहीं गये हैं। अशोक के शिलालेख भारत के सबसे प्राचीन शिलालेख हैं, जिसे ई. पू. 300 वर्ष पहले सम्राट अशेक ने खुदवाया था। इस शिलालेख की भाषा पालि है। पालि का प्राचीन नाम मागधी था।[8] मागधी बुद्ध भूमि (भारत) की मूल भाषा थी–

सा मागधी मूलभामा नरा ययादिकप्पिका।
ब्रह्मातो चस्सुतालापा सम्बुद्धा चापि भासरे।।[9]

इस तरह स्पष्ट है मागधी प्राकृत या पालि के सबसे प्राचीन शिलालेख भारत में अशोक के शिलालेख और खारवेल नरेश द्वारा खुदवाया गया हाथी गुम्फा लेख है। भारत में संस्कृत के सबसे प्राचीन शिलालेख चौथी शताब्दी में खुदवाये हुए प्राप्त होते हैं। इस प्रकार लिखित रूप में विचार अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में जिस भाषा का विकास पहले भारत में हुआ वह वस्तुतः पालि या मागधी ही थी। संस्कृत पालि के बाद भारत में साहित्यक भाषा के रूप में प्रचलित हुई। संस्कृत भारत में कभी बोलचाल की भाषा नहीं रही। प्राचीन भारत में बोलचाल की भाषा मागधी या पालि रही है। मागधी में बुद्धवचन संकलित है, अर्द्धमागधी (जिसमें आधे चरित्र मागधी के हैं) में जीनवचन संकलित हुआ। इस प्रकार बुद्धवचन, अशोकवचन और महावीरवचन मूलतः भारत की प्रचीन भाषाओं के प्रतिनिधि साहित्य हैं। संस्कृत में हिन्दुओं के धर्मग्रन्थ संकलित हैं, जिसमें रामायण, महाभारत जैसी रचनाएं परिगणित हैं। वेद की भाषा और लौकिक संस्कृत में फर्क है। वेद की भाषा संस्कृत नहीं बल्कि छन्दस है, जिसकी समानता अवेस्ता से है।[10] अवेस्ता ईराक की प्राचीन भाषा थी। आर्य उसी प्रदेश से भारत में आये थे, अतएव भारत की प्राचीन भाषा मागधी थी न कि संस्कृत। संस्कृत के प्राचीन शिलालेख इराक में प्राप्त हुए हैं। आर्यो को भारत में आना और अपने वैदिक धर्म का प्रचार–प्रसार करना भारतीय लोगों को धर्म परिवर्तन कराना, भारत की प्राचीन संस्कृति श्रमण संस्कृति को नष्ट करना, आर्यो का मुख्य काम

रहा। संस्कृत उस समय छन्दस के रूप में प्रचारित किया गया जिसकी दुरूहता को सरल रूप प्रदान करते हुए पाणिनि ने संस्कृत भाषा की रचना की। अब वेद की भाषा से विकसित संस्कृत साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठा पायी। इस समय तक मौर्य वंश कमजोर हो चुका था। मौर्य वंश के दसवें राजा वृहद्रथ के सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने वृहद्रथ की हत्या कर दी और शुंग वंश की स्थापना की। संस्कृत को पुनर्स्थापित करने के लिए अपने राज पुरोहित पुष्यमित्र से पाणिनि के अष्टध्यायी पर नई व्याख्या करायी। अश्वमेघ यज्ञ कराया गया। यज्ञ जैसे कर्मकाण्ड को फिर से समाज में लाया गया। पुष्यमित्र की घोषणा थी कि जो हमें एक श्रमण का सर देगा उसे मैं सौ सोने का सिक्का दूंगा।[11] इस अभियान में श्रमण धर्म के अनुयायी चुन–चुन कर मार दिये गये। साथ ही उनकी भाषा और साहित्य को पूर्णतः नष्ट कर दिया गया। आज अगर कोई बौद्ध धर्म स्वीकार करता है। सरण गमन कर अपनी भाषा क्षेत्र में वापसी करता है और संस्कृत परक विदेशी जन्य भाषाओं से मुक्त होता है तो हर भारतीय जो बौद्ध धर्म स्वीकार करते हैं, वापसी करते हैं, ऐसा समझना चाहिए।

संदर्भ संकेत

1. क. कनिंघम, ए., आर्कलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, जिल्द 5, पृ. –105–8;
   ख. वत्स, माधोस्वरूप, एक्सक्वेशन एट हड़प्पा, जिल्द–2 दिल्ली 1947/7
   ग. ब्हीलर, आर. ई. एम., एन्शीएण्ट इण्डिया, खण्ड–3 1947, पृ.– 81–83;
2. मार्शल, सर जॉन, मोहनजोदड़ो एण्ड इण्ड्स वैली सिविलाईजेशन, जिल्द 3, लन्दन, 1931;
3. सैन्धव धर्म पर विस्तार से दृष्टव्य–
   क. मार्शल, जे. मोहनजोदड़ो एण्ड वैली सिविलाइजेशन खण्ड–1. लन्दन
   ख. मैके, अर्नेस्ट, द अली इण्डस सिविलाइजेशन,
   ग. गोयल एल., आर., ए रिलिजियस हिस्ट्री ऑव एन्शीएण्ट इण्डिया, जिल्द–1 मेरठ 1984 पृ–12–34
   घ. हेरास, एस. जे. रिलिजन ऑव मोहनजोदड़ो एकार्डिंग टू इन्सक्रिप्शन्स पृ.–1–29;
4. ऋग्वेद–10.136.2
5. वृह्दकारण्य उपनिषद 4.3.22
6. अथर्ववेद 2.5.3;
7. पातंजल महाभाष्य, 5.49;
8. भिक्षु सिद्धार्थ बुद्धिस्टिक स्टडीज पृ.–641;
9. गुणरत्न थेर, कच्चायन व्याकरण भूमिका, के प्रारम्भ से उद्धत,
10. डॉ. उदय नारायण तिवारी, कच्चायन व्याकरण, भूमिका भाग, पृ. 9–10; 6
11. यो मे श्रमण शिरो दास्याामि तस्याहं दीनारशतम् दास्यामि, दिव्यावदान, कैम्ब्रीज युनिवर्सिटी प्रेस, 1886 पृष्ठ– 434।

भगवान बुद्ध की शिक्षाऐं

आओ बच्चों मिलकर आओं।
आज तुम्हें कुछ बातें बताऊँ।
बुद्ध के जन्म दिवस पर ।
उनके कुछ उपदेश सुनाऊँ।1।

कभी किसी से झुठ न बोलो।
सच्च के लिए अपना मुँह खोलो।
जब भी कभी बोलना चाहो।
तो पहले शब्दों को तोलो।
रखो सदा ही सच्च को साथ।
चाहे दिन हो चाहे रात।
किसी की कभी न करो बुराई।
मीठी वाणी में सबकी भलाई।2।

कभी कोई गलती कर जाओं ।
तो माफी से मुक्ति पाओ।
माफी माँगना या फिर करना।
नहीं कभी कोई इससे डरना।
रखो सबसे मैत्री भाव।
छोड़ो सब पे यह प्रभाव।
क्षमा से बड़ा न कोई उपहार।
होते इससे उच्च विचार।3।

कभी न हिंसा किसी पे करना।
सबसे ही मिलजुलकर रहना।
सबमें एक ही जैसी जान।
नहीं करना किसी का अपमान।
छोड़ो सारे वैर-विरोध ।
कभी न मन में लाना क्रोध।4।

बच्चों यह सब बातें समझना।
अच्छाई के मार्ग पर चलना।
बुद्ध के शुभ वचनों का ।
जीवन में सब पालन करना।5।

रेविका
कक्षा-सातवीं

बुद्ध की मानवतावादी दृष्टि : एक समीक्षा

डॉ. हरीश कुमार बालूजा, बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

भगवान बुद्ध देव और मनुष्यों के शास्ता थे, परन्तु सबसे पहले वह मनुष्य थे। मनुष्य बढ़कर देवता बनता है, यह प्राचीन मान्यता थी, आज भी हम मनुष्यत्व के ऊपर देवत्व की बात करते हैं, परन्तु बुद्ध ने इस क्रम को पलट दिया। उन्होंने कहा, "यह जो मनुष्यता है, वही देवताओं को सुगति प्राप्त करना कहलाती है।" देवता जब सुगति प्राप्त करता है, तब वह मनुष्य बनता है। देवताओं में विलास है, राग, द्वेष, ईर्ष्या और मोह भी वहां है। निर्वाण की साध्ना वहां नहीं हो सकती। इसके लिए देवताओं को मनुष्य बनना पड़ता है। मनुष्यों में ही देव पुरुष का आविर्भाव होता है, जिनको देवता नमस्कार करते हैं। मानवता धर्म का उपदेश देने वाले बुद्ध स्वयं मानवता के जीते जागते रूप थे। यहां उनके जीवन से संबंधित कुछ प्रसंग दिये जाते हैं, जिनसे उनके व्यक्तित्व में बैठी हुई गहरी मानवता का दर्शन होता है।

भगवान का परिनिर्वाण होने वाला है। रात का पिछला पहर है। भिक्षु उनकी शैया को घेरे बैठे हैं। बुद्ध उन्हें उपदेश दे रहे हैं। "भिक्षुओं, बुद्ध धर्म और संघ के विषय में कुछ शंका हो तो पूछ लो, पीछे मलाल मत करना कि भगवान हमारे सामने थे, पर हम उनसे कुछ पूछ न सके।" कोई शिष्य न हीं बोलता। भगवान तीन बार कहते हैं, पर कोई भिक्षु कुछ पूछने को नहीं उठता। भगवान को शंका होती है कि कहीं वे उनके गौरव का विचार करके पूछने में संकोच तो नहीं कर रहे! इसलिए वह कहते हैं, ''शायद भिक्षुओं, तुम मेरे गौरव के कारण नहीं पूछ रहे। जैसे मित्र मित्र से पूछता है, वैसे तुम मुझसे पूछो।'' बुद्ध अपने शिष्यों की समान भूमिका पर आ जाते हैं। उनकी यह विनम्रता। मनुष्य–धर्म की आधारभूमि है। बुद्ध ने अंतिम भोजन किया था। उसके बाद उन्हें पेचिश से खून गिरने की कड़ी बीमारी हो गई थी, जो उनके शरीरांत का कारण बनी। बुद्ध को उसके हृदय का बड़ा ध्यान था। भक्त उपासक को यह अफसोस हो सकता था कि उसका भोजन करके ही भगवान का शरीर छूट गया। इसलिए आखिरी सांस लेने से पहले उन्होंने आनंद को आदेश दिया, "आनन्द चन्द कर्मारपुत्र की इस चिन्ता को दूर करना और कहना, आयुष्मान तूने बड़ा लाभ कमाया कि मेरे भोजन को करके तथागत परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।" जिसके हृदय में अगाध करूणा हो, वह ऐसा क्यों न कहता?

जिस रात को बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ, आधी रात के समय सुभद्र नाम का एक परिव्राजक आया। उसके मन में कुछ शंकाएं थी। आनंद ने उसे यह कहकर रोक दिया, "उन्हें हैरान मत करो। वह सोए हुए हैं।" भगवान ने आनन्द की बात सुन ली। उन्होंने आनंद से कहा, "नहीं आनंद, सुभद्र को मना मत करो। मेरे पास आने दो। वह परमज्ञान की इच्छा से पूछना चाहता है, हैरान करने की उसकी इच्छा नहीं है। पूछने पर जो मैं उसे कहूंगा, वह उसे जल्दी ही समझ लेगा।"

मध्य रात्रि में, उस अवस्था में, सुभद्र की तथागत से उपदेश सुनने का सौभाग्य मिल गया।

एक बड़ी दुखियारी स्त्री थी। पति, पुत्र परिवार सब उसका नष्ट हो गया था। मारे दुःख के वह पागल हुई फिरती थी। कपड़े पहनने का भी उसे होश न था। उसका नाम पटाचारा था। एक दिन घूमते हुए वह बुद्ध के पास, जैतवन में आराम से आ गई। उस नंगी स्त्री को देखकर लोगों ने कहा, यह पागल है। इसे इधर मत आने दो।"

बुद्ध ने कहा, "इसे मत रोको।"

जैसे ही वह पास आई, बुद्ध ने कहा, "भगिनि, स्मृति लाभ कर।"

स्त्री को कुछ होश आया। लोगों ने उस पर कपड़े डाल दिये, जिन्हें उसने ओढ़ लिया। स्त्री फूट–फूट कर रोने लगी। बुद्ध ने अपने उपदेशामृत से उसके शोक को दूर कर दिया।

बुद्ध का एक भिक्षु शिष्य था वक्कलि। वह एक बार बीमार पड़ गया। उसने अपने एक साथ भिक्षु के द्वारा भगवान के दर्शन करने की अपनी इच्छा उन तक पहुंचवाई। भगवान उसकी इच्छा पूरी करने उसके पास गये। दूर से भगवान को आता देखकर वक्कलि उनका सम्मान करने और उनको आसन देने के लिए चारपाई से उठने की चेष्टा करने लगा। भगवान ने उसे यह कहकर रोक दिया कि अलग आसन तैयार है। उसके हिलने–डुलने की आवश्यकता नहीं है और वह बिछे आसन पर बैठ गये। वक्कलि ने उसकी वंदना करते हुए कहा, ''आपके दर्शन की मेरी बड़ी इच्छा थी। आपने पा करके उसे

पूरा कर दिया।"

बुद्ध ने कोमल स्वर में कहा, वक्कलि शांत हो जा। तेरी जैसी गंदी काया है, वैसी ही मेरी है। वक्कलि, इस गंदी काया को देखने से क्या लाभ? जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है।"

भगवान बुद्ध गृहस्थों के प्रति बड़ी सहानुभूति रखते थे। एक बार सुप्रवासा नामक स्त्री के बच्चा होने वाला था और वह असहाय वेदना से पीड़ित थी। उसने अपने पति के द्वारा बुद्ध के चरणों में प्रणाम अर्पित करवाया। भगवान ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा, "कोलिय पुत्री सुप्रवास, सुखी हो जाये, चंगी हो जाये। सुखी और चंगी होकर बिना किसी कष्ट के वह पुत्र प्रसव करे।"

इसी प्रकार ब्राह्मणों के साथ भी, जैसे कि विश्व के सभी प्राणियों के साथ, उनकी पूरी सहानुभूति थी बावरि नामक ब्राह्मण के एक शिष्य ने जब अपने गुरु की ओर से भगवान के चरणों में प्रणाम निवेदन किया तो भगवान ने आशीर्वाद देते हुए कहा, शिष्यों सहित बावरि ब्राह्मण सुखी हो। माणवक, तुम भी सुखी हो, चिरजीवी हो।"

बुद्ध के पास छोटा–बड़ा, जो भी जाता था, वह उससे कहते थे, "आओ, तुम्हारा स्वागत है।"

भगवान अपनी अंतिम यात्रा में पावां और कुसीनारा के बीच जा रहे थे। रास्ते में उन्हें पुक्कुस मल्लपुत्र नामक व्यापारी मिला। उसने उन्हें एक दुशाला भेंट किया। परन्तु भगवान उसे अकेले कैसे ओढ़ते? वह अपने शिष्य आनन्द को सम्मानित करना चाहते थे। उन्होंने कहा, 'पुक्कुस, दुशाले के एक भाग को मुझे ओढ़ा दे, दूसरे को आनंद को पुक्कुस ने ऐसा ही किया।

भूल करने वालों के प्रति भी बुद्ध की अनुकम्पा का पार न था। एक बार ब्राह्मण ने भगवान को वेरंजा में वर्षावास करने का निमंत्रण दिया। भगवान वहाँ गये, लेकिन वह ब्राह्मण बहु धंधी था।उसने उनकी कुछ भी सुध–बुध नहीं ली। बुद्ध को बड़ा कष्ट हुआ उन्हें तीन महीने तक कुटज हुआ जो रोज खाना पड़ा, क्योंकि उस समय वेरंजा में अकाल पड़ रहा था और वह जो भी उनको और उनके शिष्यों को घोड़ों के व्यापारियों से मिलता था। इतना होने पर भी वर्षावास की समाप्ति पर भगवान बुद्ध अन्यत्र जाने से पूर्व वेरंजा जाकर ब्राह्मण को आशीर्वाद देना नहीं भूले।

भगवान बुद्ध के जीवन में ऐसी अनंत घटना मिलती है। उनमें हमें उनकी मानवता के दर्शन होते है।। उनके जीवन में कोमलता की पराकाष्ठा थी और उनकी वाणी में अपूर्व माधुर्य था, जो सबको अपनी ओर खींचता था। उनके मुंह में क्रोध भरा शब्द कभी नहीं निकलता था। वह मनुष्य थे, परंतु मनुष्य की दुर्बलताओं से ऊपर उठ चुके थे। उनके व्यक्तित्व में मानवता की शुभ ज्योत्सना धर्म की स्थिति बनकर चमकी।

संदर्भ संकेत

1. बुद्ध की मानवता / भरत सिंह उपाध्याय
2. बौद्ध दर्शन मीमांसा : बलदेव उपाध्याय
3. पालि साहित्य का इतिहास, भरत सिंह उपाध्याय

"Caste has killed Public Spirit. Caste has destroyed the sense of Public Charity. Caste has made Public Opinion impossible. Virtue has become caste-ridden, and morality has become caste-bound"

- Dr. Ambedkar

बौद्ध धर्म में कर्म और पुनर्जन्म - एक अध्ययन

निर्दोश कुमार, शोधार्थी - इतिहास,
जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर (म0प्र0)

बौद्ध धर्म के अभ्युदय से मानव–जगत् को जो प्रेरणा मिली, वह समकालिक अन्य धर्मो से न मिल सकी। यही कारण है कि इस धर्म ने विश्व के अधिकांश भाग को प्रभावित किया।[1]

बुद्ध से तात्पर्य गौतमबुद्ध से है, जो इस धर्म के प्रवर्तक थे। जातकों से ज्ञात होता है कि गौतमबुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त करने से पूर्ण बोधिसत्व के रूप में कई जन्म लिये थे और बुद्धत्व प्राप्त करने की दृष्टि से यह उनका अन्तिम जन्म था। गौतमबुद्ध के रूप में उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त किया, तब से वे बुद्ध कहलाए।[2]

"कम्प निबन्धनासत्ता रनस्साणीय जायती"।

भारतीय वाड्मय में कर्मवाद को पूरी प्रतिष्ठता मिलती है। बौद्ध दर्शन में भी कुशल कर्मो के सम्पादन की विवेचना की गई है। यह कहा गया है कि हे भिक्षु कर्म ही अपना है, कर्म ही योनि है, कर्म ही बन्धु है, कर्म ही प्रतिशरन है –

कम्मस्या सत्ता, कम्म यौनि, कम्मबंधु, कम्मपरिस्सरन।[3] भगवान् बुद्ध ने चेतना को ही कर्म कहा है – "चेतनाहं भिक्खवे कम्म बदामि"। जितने भी संसार के क्रियमाण कर्म हैं वे सब मन से ही होते हैं। मन ही सभी प्रवृत्तियों का अगुआ है। धम्मपद में भगवान् बुद्ध ने कहा है –

मनोपुब्बङ्गमा धम्मासेट्ठो मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति करोति वा।
ततो'नं दुक्खमन्वेति चक्कंश्व वहतो पदं।[4]

मन एवं मनुष्याणां बन्धन कारणमोक्षयोः।

अर्थात् मन ही मनुष्य के बंधन एवं मोह का कारण है। अर्थात् जितने भी धर्म (कर्मद्ध हैं उनका अग्रणी मन है। यदि कोई प्रटुवर मन से कर्म करता है या बोलता है तो दुःख उसका पीछा उसी प्रकार करता है जैसे गाड़ी में जुते हुये बैल के पैर का पीछा चक्का करता है यदि कोई प्रसन्न मन से बोलता है और कहता है तो सुख उसका पीछा उसी प्रकार करता है जैसे प्राणियों का पीछा छाया करती है। मन से किया गया कर्म मानसिक कर्म कहलाता है काप तन वाक् से किया गया कर्म चेतपित्वा कर्म कहलाता है। लेकिन करण कर्म तथा वाक् कर्म में भी मन का योग अपेक्षित है। चेतना को मानस कर्म कहते हैं। चेतना से जो उत्पन्न होता है अर्थात् चेतयित्वा कर्म चेतनाकृत है। चेतयित्वा के दो भेद हैं – कायिक और वाचिक। यदि हम समुत्थान पर विचार करते हैं। तो केवल मानस कर्म है क्योंकि सम कर्मो का समत्थान (आरम्भद्ध मन से है।

भगवान् बुद्ध ने चार प्रकार के कर्मो का निर्देश दिया है। पहला कृष्ण कर्म जिसका विपाक कृष्ण हेाता है। शुक्ल कर्म जिसका विपाक शुक्ल होता है। दोनों तथा दोनों से भिन्न जिसका विपाक न शुक्ल होता है न कृष्ण। यह स्पष्ट है कि मनुष्य अपने कर्मो का उत्तराधिकारी है 'कम्म दायादसत्ता'। केवल अंतिम स्थिति में कर्म का क्षय होता है। किन्तु अक्रिया द्वारा नहीं अपितु विगत कृवन कर्मो द्वारा होता है। गीता के अनुसार – कर्म की तीन कोटियाँ हैं – जो कर्म शास्त्र विधि से नियत किया हुआ, कर्त्तापन के अधिकार से रहित, फल को न चाहने वाले पुरूष द्वारा विना राग–द्वेष से किया हुआ है वह कर्म स्पत्विय या शुक्ल कर्म है। पुनः जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त है तथा फल को चाहने वाले अहंकार युक्त पुरूष द्वारा किया जाता है वह राजस मार्ग कहलाता है। तथा जो कर्म परिणाम हानि और सामनर्थ को न विचारकर केवल अज्ञान से प्रारंभ किया जाता है वह कर्म तामस कर्म कहलाता है।[5]

योगाचार की मूल कल्पना है कि आलय विज्ञान में विद्यमान बीजों का ही विकास या विस्तृतीकरण है। इसी कल्पना के अनुरोध से उन लोगों ने नवीन चार भेदों का वर्णन किया है। भौतिक जगत् की सृष्टि के लिये यह आवश्यक है कि कोई कारण शक्ति मानी जाय जो प्रत्येक धर्म में बीज का उत्पादन करे परन्तु उत्पत्ति के अनन्तर भी ये बीज अलाय विज्ञान में

शांत रूप से रहेंगे। जब तक किसी उद्‌बोधक कारण की सत्ता न मानी जाय। जैसे – एक वृक्ष से वृक्षान्तर की उत्पत्ति होने के लिये बीज का होना अनिवार्य है। और यह बीज भी वृक्ष के उत्पादन में समर्थ नहीं होगा। जब तक पृथ्वी, वायु, सूर्य की सहायता पाकर वह अंकुरित न हो। इसी दृश्टान्त को दृश्टि में रखकर योगाचार ने निदानों के चार निम्न प्रकार माने हैं –

वर्तमान 1 बीज–सत्पदान शक्ति–अविद्या संस्कार

2 बीज–विज्ञान = वेदना

3 बीजोत्पादन सामग्री = तृष्णा, उपादान तथा भव

भविष्य 4 व्यक्त कार्य =जाति परागमन

निदानों की समीक्षा में योगाचार का मत पर्याप्त प्रमाण के ऊपर अवलम्बित है यह प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त बौद्ध दर्शन की आधारशिला है। इसलिये दार्शनिकों ने इस सिद्धन्त का विवेचन बड़ी अढ़पोद के साथ किया है।[6]

बौद्ध दर्शन हेतुवादी दर्शन है। विश्व की तमाम घटनाओं के पीछे हेतु संबद्ध है। बिना कारण के कोई घटना की पुश्टि नहीं हो सकती है बौद्धों को यही कारण–कार्य का सिद्धान्त मान्य है। यदि दुःख हो तो दुःख का कारण तृष्णा है। उसी प्रकार वर्तमान कर्मो के विपाक स्वरूप मनुष्य का अगला जन्म निर्धारित होता है। यदि बौद्ध दर्शन अनीश्वरवादी दर्शन है तथा स्थायी आत्मा की यहाँ कोई गुंजाइश नहीं है तब पुनर्जन्म किसका होता है ? बुद्ध पुनर्जन्म सिद्धान्त को मानते हैं। वैदिक मत में भी यही सिद्धान्त मान्य है। परन्तु वहाँ आत्मा को नित्य एवं शाश्वत माना गया है। लेकिन बौद्धमत आत्मा के अस्तित्व से ही इंकार करता है। फिर पुनर्जन्म किसका होता है ? क्या वह जिसने कर्म किया है ? वह अतीत में जीन हो जाता है और जो करता है उसने वे कर्म नहीं किये जिसके फल भोगने के लिये नये जन्म की जरूरत पड़ती है।7

निष्कर्ष :

बौद्ध धर्म भी कर्म सिद्धान्त की धारणा को स्वीकारता है। बौद्ध धर्म इस जगत् में दुःख दर्द की सत्ता स्वीकारता है। दुःख के कारणों की व्याख्या भी इसके आर्य सत्यों में विश्लेषित है। बुद्ध इस बात को भी स्वीकारते हैं कि दुःख का निरोध संभव है। दुःख निरोध क लिये अष्टांगिक मार्ग की भी चर्चा विस्तृत रूप से की गयी है। इस अष्टांगिक मार्ग में ही बौद्ध का नैतिक विचार निहित है। बौद्ध धर्म मोक्ष की प्राप्ति को जीवन का परम लक्ष्य मानता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति नैतिक आचरण से संभव है। बुद्ध यह मानते है कि मनुष्य अपने नैतिक जीवन के निर्माण में स्वतंत्र है। व्यक्ति अपने कर्मो के आधार पर ही परम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उसे किसी अध्यात्म सत्ता की आवश्यकता नहीं है। जैसा कि हमने देखा, बौद्ध धर्म में ईश्वर या शाश्वत आत्मा के लिये कोई स्थान नहीं है। यही कारण है कि यह अनात्मवाद को प्रश्रय देता है। बौद्ध धर्म में नीति शास्त्र का स्थान गौण माना जा सकता है। प्रधान स्थान मोक्ष की प्राप्ति है जो जीवन का परम लक्ष्य है। बौद्ध धर्म शाश्वत आत्मा को अस्वीकारते हुये भी पुनर्जन्म धारणा की व्याख्या क्षणिकवाद के आधार पर कर देता है। यह भी स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन के अनुसार नीतिशास्त्र धार्मिक है।

संदर्भ संकेत

1. अगुंन्तर निकाय 1/145/
2. मज्झिम निकाय 2/415/
3. मज्झिम निकाय 2 पृ0 336
4. धम्मपद गाथा ।
5. संयुक्त निकाय, पृ0 70
6. विशष – दीघ निकाय (हिन्दी अनुवाद) पृ073
7. विशेष (1) मज्झिम निकाय "महाहलिपदोपमसुत्त"

"A people and their religion must be judged by social standards based on social ethics. No other standard would have any meaning if religion is held to be necessary good for the well-being of the people."

B.R. Ambedkar

बुद्ध सुभाषितरत्न : धम्मपद

एकता जैन
एम.फिल्., बौद्ध अधययन विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-07

धम्मपद बौद्ध साहित्य की प्रसिद्धतम और दीर्घतम कृति है। नैतिक शिक्षाओं के कारण इसका बहुत अधिक आदर है। धम्मपद ग्रंथ का **साहित्यिक एवं धार्मिक** – दोनों ही स्तरों पर समान महत्त्व माना गया है। विद्वज्जन बौद्ध धर्म को आचार प्रधान धर्म मानते हैं। इस धर्म में नैतिक सदाचार को विशेष महत्त्व दिया गया, जिसे यहाँ 'शील' कहा गया है। यह बौद्ध धर्म के आचार से सम्बद्ध सूक्तियों का संग्रह है। अतः इस धम्मपद ग्रंथ में भी **नैतिक सदाचार** को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है।

'धम्मपद' में दो शब्द अन्तर्भूत हैं – एक **'धम्म'** एवं दूसरा **'पद'**। **'धम्म'** शब्द संस्कृत भाषा के **'धर्म'** शब्द का अपभ्रंश रूप है। यहाँ इसका सरल परन्तु सर्वसम्मत अर्थ **'सदाचार'** या सज्जनों के पालनीय एवं नित्य करणीय कर्त्तव्य ही समझना चाहिए। **'पद'** शब्द का शास्त्रो में दो अर्थो में प्रयोग किया गया है – प्रथम – मार्ग; जैसे – **'आकासे व पदं नत्थि'** (ध.प., गा. 255), या **'पमादो मच्चुनो पदं'** (ध.प., गा. 21)। अतः इस प्रमाण के आधार पर **'पद'** का अर्थ यहाँ **'मार्ग'** माना जाए तो **'धम्मपद'** का अर्थ होगा – धर्म का मार्ग। द्वितीय – किसी का वचन या वाणी। इसी ग्रंथ में एक गाथा पढ़ने को मिलती है – **'को धम्मपदं सुदेसितं कुसलो पुप्फमिवप्पचेस्सति'** (ध.प., गा. 44), यहाँ **'धम्मपद'** का स्पष्ट एवं सुगम अर्थ है – **'धर्मसम्पृक्तवचन, या धर्मसम्पृक्त वाणी'**। इस धम्मपद ग्रंथ में भगवान बुद्ध के सदाचारसंबंधी उपदेश – वचन या वाणी सर्वत्र उद्धृत हैं अतः इसका **'धर्मवचन'** या **'धर्मवाणी'** – यह अर्थ भी उचित ही लगता है।

भगवान बुद्ध ने इस धम्मपद में कथित सभी उपदेश किसी एक स्थान पर या किसी एक ही समय में नहीं किए थे; क्योंकि वे बोधिप्राप्त्यनन्तर किसी एक स्थान पर किसी निश्चित समय तक नहीं विराजे। संग्रहकारों ने आकार की दृष्टि से धम्मपद का संग्रह खुद्दकनिकाय के अंतर्गत लघु ग्रंथों में किया है, परन्तु आकारदृष्ट्या छोटा होने पर भी प्रत्येक बौद्ध के हृदय में इसके प्रति अत्यधिक पूजनीय भाव है; क्योंकि इसमें बौद्ध धर्म के सभी सिद्धांतों का समावेश मिलता है। चार आर्यसत्य एवं आर्य आष्टांगिक मार्ग के साथ–साथ विविध सदाचारों के पालन का भी दृढ़ता से भगवान् का आदेश है। इसका समीचनतया अध्ययन करने पर हम **'बौद्ध धर्म की समस्त रूपरेखा हृदयंगम'** कर सकते हैं। साथ ही इसमें वर्णित सदाचारविधि के पालन से साधक अगणित सांसारिक दुःखों से छुटकारा पा सकते हैं। कोई नहीं कह सकता कि इसके निरंतर पाठमात्र से दुःखसन्तप्त कितने मानवों का उद्धार हो चुका है। तथा यह आज भी ऐसे लोगों का उद्धार करने में समर्थ है।

वास्तविकता यह है कि इस धम्मपद ग्रंथ की गाथाएं पठनमात्र से पाठक उसकी गंभीरता नहीं समझ पाएंगे, जब तक कि वे उस गाथा का प्रसंग, स्थान या उपदेश्य पुद्गल के विषय में न जान लें। बौद्ध परम्परा में तीन ग्रंथसमूह त्रिपिटक रूप में मान्य हैं – विनयपिटक, सुत्तपिटक, एवं अभिधम्मपिटक।

सुत्तपिटक को पाँच भागों में वर्गीकृत किया गया है–

1. दीघनिकाय,
2. मज्झिमनिकाय,
3. संयुत्तनिकाय,
4. अंगुत्तरनिकाय एवं
5. खुद्दकनिकाय।

इस अन्तिम खुद्दकनिकाय के अंतर्गत छोटे–बड़े 15 ग्रंथ परिगणित हैं। इनमें द्वितीय ग्रंथ **धम्मपद** माना गया है।

धम्मपद के रचयिता भगवान् बुद्ध ही हैं, बौद्ध परम्परा की मान्यता है। आचार्य बुद्धघोष धम्मपदट्ठकथा के आरंभ में अनुबन्धचतुष्ट्य के साथ धम्मपद के रचयिता के विषय में लिखते हैं–

"तं तं कारणमागम्म, धम्माधम्मेसु कोविंदो।
सम्पत्तसद्धम्मपदो, सत्था धम्मपदं सुभं।।
देसेसि, करुणावेग–समुस्साहितमानसो।
यं वे देवमनुस्सानं पीतिपामोज्जवड्ढनं।।"

(ध.प.अ.,मंगलगाथा)

इससे सिद्ध होता है कि बौद्ध परम्परा की विद्वन्मण्डली भगवान् बुद्ध को ही धम्मपद का रचयिता मानती है।

भगवान बुद्ध जो कुछ भी उपदेश करते थे उसको उनके सम्मुख बैठे भिक्षु, आनन्द आदि शिष्य, भगवान् बुद्ध के श्रीमुख से निकलते ही कण्ठस्थ कर लेते थे तथा समय–समय पर उसका पुनः पुनः अभ्यास करते रहते थे, इस कारण उसके विस्मरण या विलुप्त होने का भय नहीं रह जाता था। इसीलिए भगवान् बुद्ध के समय तक आर्यावर्त में समग्र **वैदिक साहित्य, समग्र संस्त साहित्य, समस्त बौद्ध एवं जैन साहित्य** भी स्मृतिपरम्परा से ही सुरक्षित था। भगवान् बुद्ध के धर्मसम्बद्ध तथा सदाचारसम्बद्ध वचन की इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य या वर्णनीय विषय है। इसमें कथित प्रत्येक गाथा भगवान् बुद्ध ने किसी साधक भिक्षु या उपासक या श्रोता को, उसके ऐकान्तिक हित को ध्यान में रखकर ही कही है। इस ग्रंथ में **'सभी गाथाएं बुद्धप्रोक्त हैं, किसी अन्य द्वारा प्रोक्त नहीं हैं।'**

समस्त संसार दुःखों से परिप्लुत है, दुःख क्यों होते हैं? इन दुःखों से मुक्त होने होने का क्या उपाय है? दुःखों से मुक्त होने की स्थिति क्या है? उस स्थिति का नाम क्या है? – आदि बातों का वर्णन भी यथास्थान इस ग्रंथ में उपलब्ध है। इसमें एक स्थान पर कहा गया है–

को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति।
अन्धकारेन ओनद्धा पदीपं न गवेसथ!।। (ध. गा. 146)

बौद्ध धर्म की यह मान्यता है कि मानव जीवन नैराश्यमय है। मानव शरीर धारण करना ही दुःख को आमंत्रण देना है। धम्मपद में कहा है–

''नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो कलि।
नत्थि खन्धादिसा दुक्खा, नत्थि सन्ति परं सुखं''।।
(ध.प. गा., 202)

पुनश्च एक स्थान पर शरीर के विषय में यह भी लिखा है–

''परिजिण्णमिदं रूपं, रोगनिड्डं पभंगुरं।
भिज्जति पूतिसन्देहो, मरणन्तं हि जीवितं।।''
(ध.प., गा. 148)

भगवान् ने सांसारिक प्रीति, स्नेह, आसक्ति, कामना, तृष्णा – सभी को दुःखपूर्ण बताया है। (द्र. – 213 से 216 तक की गाथाएं)

धम्मपद में असदाचारी की दुर्गति भी विस्तृत रूप से वर्णित हैं। जैसे जल की एक–एक बूंद से भी समय आने पर कोई घट भर जाता है; उसी तरह अल्प पाप भी एक दिन विशाल राशि में परिणित हो जाता है–

''मापमञ्ञेथ पापस्स 'न मं तं आगमिस्सति'!
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भोपि पूरति।
बालो पूरति पापस्स, थोकथोकं पि आचिनं''।।
(ध.प., गा. 121)

बौद्ध धर्म का ध्येय है – दुःखों की सदा के लिए शान्ति। इसी अवस्था को यहाँ **'निर्वाण'** कहा गया है। भगवान् निर्वाण को ही परम सुख सिद्ध करते हैं। उनका उपदेश है–

''जिघच्छापरमा रोगा, संख्यपरमा दुखा।
एतं ञत्वा यथाभूतं, निब्बानं परमं सुखं''।।
(ध.प., गा. 203)

इसी निर्वाण को बौद्ध दर्शन में योगक्षेम भी कहा जाता है(जैसे–

''ते झायिनो सातातिका, निच्चं दहपरक्कमा।
फुसन्ति धीरा निब्बानं, योगक्खेमं अनुत्तरं''।।
(ध.प., गा. 23)

मन ही मनुष्य के सभी दुःखों का कारण है – प्राणियों की सभी प्रवृत्तियां मन से ही आरब्ध होती हैं। यदि मन अशुभ चिंतक है तो मनुष्य का आचरण पापमय होगा और उस आचरण का परिणाम दुःखमय ही होगा। इसीलिए धम्मपद कहता है–

''मनोपुब्बगंमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा वे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं व वहतो पदं''।।
(ध.प., गा. 1)

तृष्णाग्रस्त पुरुष बन्धे खरगोश के समान संसार में चक्र लगाता रहता है–

तसिणाय पुरक्खता पजा, परिसप्पन्ति ससो व बाधितो।

कहने का तात्पर्य यह है कि मन के असंयत होने पर मनुष्य में तृष्णा आदि की वृद्धि होती है, इसीलिए मनुष्य दुःखग्रस्त होता रहता है। (द्र. – गाथा–212 से 216)

सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध का सर्वोत्कृष्ट उपदेश संक्षेप में इस प्रकार समझना चाहिए–

सब्बपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदापनं, एतं बुद्धान सासनं।।
(ध.प., गा. 183)

तृष्णा ही सब दुःखों का कारण है, अतः तृष्णा एवं लोभ का क्षय करना चाहिए –

तणहाक्खयरतो होति, सम्मासम्बुद्धसावको।।
(ध.प., गा. 287)

काय, वाक् एवं मन से क्रोध का त्याग करना चाहिए–

''कायप्पकोपं रक्खेय्य, कायेन संवुतो सिया...
वचीपकोपं रक्खेय्य, वाचाय संवुतो सिया...
मनोपकोपं रक्खेय्य, मनसा संवुतो सिया...
मनोदुच्चरितं हित्वा, मनसा सुचरितं चरे''।।
(ध.प., गा. 232–233)

सज्जनों का अपकार न करें–

''यो अप्पदुट्ठस्स नरस्स दुस्सति, सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स।

तमेव बालं पच्चेति पापं, सुखुमो रजो पटिवातं व खित्तो''।। (ध.प., गा. 125)

साधक अपनी इन्द्रियों को संयत रखें–

''यस्सिन्द्रियानि समथङ्गतानि, अस्सा यथा सारथिना सुदन्ता।

पहीनमानस्स अनासवस्स, देवा पि तस्स पिहयन्ति तादिनो''।। (ध.प., गा. 94)

'संसार की सभी वस्तुएँ अनित्य हैं'–यह भावना रखें–

'''सब्बे सङ्खारा अनिच्चा' ति, यदा पञ्ञय पस्सति।...

'सब्बे सङ्खारा दुक्खा' ति, यदा पञ्ञय पस्सति।...
'सब्बे धम्मा अनत्ता' ति, यदा पञ्ञय पस्सति।...
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया''।
(ध.प., गा. 277–279)

निर्वाणप्राप्ति में ईश्वरभक्ति अपेक्षित नहीं–

''अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया।
अत्तना हि सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं''।।
(ध.प., गा. 160)

अतः हम कह सकते हैं कि वर्तमान भौतिकवादी काल में तो भगवान् के ये बहुजनकल्याणकारी वचन प्रत्येक पुरुष के लिए, भले ही वह पुरुष किसी भी देश का वासी हो, किसी भी जाति का हो, किसी भी आयु का हो, सभी के लिए अधिक से अधिक कल्याणकार हो सकते हैं। आज से प्रायः 2200 वर्ष पूर्व अशोक ने इस ग्रंथ के केवल प्रारंभिक अंश का ही विद्वानों से श्रद्धापूर्वक श्रवण किया था, उसी पर आचरण के प्रभाव–प्रताप से अपने समय में इतने लोकोपकारी कार्य किए एव आदर्श शासन किया कि उसका नाम इतिहास के पृष्ठों पर आज भी स्वर्णाक्षरों में अंकित है। इसमें एकमात्र यही कारण प्रतीत होता है कि भगवान् बुद्ध ने इस ग्रंथ में दुःखी मानव के कल्याण हेतु सरलतम साधना पद्धतियाँ एकत्र कर दी हैं। बौद्ध साहित्य में मिलिन्दपञ्हपालि एक प्राचीनतम एवं सुविख्यात ग्रंथ है। इसकी रचना ईसा की प्रथम शताब्दी में मानी जाती है। इसमें अनेक स्थानों पर धम्मपद ग्रंथ का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। त्रिपिटक के सभी ग्रंथों का संकलन भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के तत्काल बाद राजगृह में आयोजित भिक्षुओं की प्रथम महासंगीति में ही कर लिया गया था। इस मत का वर्णन भी चुल्लवग्ग (विनयपिटक के खन्धक भाग का द्वितीय ग्रंथ) में विस्तार से उपलब्ध है। वे (द्वितीय मतानुयायी) कहते हैं– द्वितीय (कालाशोक के समय) एवं तृतीय (सम्राट अशोक के समय संपन्न) महासंगीतियों में उक्त संकलन को केवल पूर्णता ही प्रदान की गयी। संक्षेप में यह माना जा सकता है कि इस 423 गाथा युक्त धम्मपद का यह रूप ईसापूर्व प्रथम शताब्दी से वर्तमान युग में समान रूप से उपलब्ध है यथार्थ में धम्मपद गाथाएं आज के युग में बहुत ज्यादा प्रासंगिकता एवं उपयोगी हैं।

प्रेरेक प्रसंग

बुद्ध और धर्म

जुलाई 1988 हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

कल्याण मित्र
आचार्य सत्यनारायण गोयन्का जी

जब कोई व्यक्ति बुद्ध होता है, जीवनमुक्त होता है, परम परिशुद्ध होता है तो धर्म ही सिखाता है, बौद्ध धर्म नहीं। बौद्ध धर्म तो केवल बौद्धों का ही होगा न? ठीक वैसे ही कि जैसे हिन्दू धर्म केवल हिन्दुओं का है, जैन धर्म केवल जैनियों का, मुस्लिम धर्म मुस्लमानों का, ईसाई धर्म ईसाइयों का, सिक्ख धर्म सिक्खों का, पारसी धर्म पारसियों का, यहूदी धर्म यहूदियों का इत्यादि। ऐसे ही बौद्ध धर्म केवल बौद्धों का ही है।

परन्तु बुद्ध की शिक्षा तो सब के लिए होती है केवल बौद्धों के लिए नहीं। वह मनुष्य मनुष्य में भेदभाव नहीं करती। बुद्ध की शिक्षा मानव समाज को जाति–पाति के, ऊंच–नीच के विभाजनों में विभाजित नहीं करती। जहां जाति–पाति का भेदभाव हो तो वह उसे तोड़ती है। बुद्ध की शिक्षा मनुष्य को अलग–अलग संप्रदायों के बाड़े में नहीं बांधती। वह तो विभिन्न संप्रदायों के बाडो में बंधे हुए और गड़रियों जैसे नेताओं द्वारा भेड़–बकरियों की तरह हांके जाते हुए लोगों को इन बंधनों से मुक्त करती है। आदमी को स्वतंत्रा–स्वाधीन बनाती है। हर एक को अपने पांव पर खड़ा होना सिखाती है। पराधीनता तोड़ती है। वह किसी एक संप्रदाय समाज तक सीमित नहीं रह सकती।

कोई बुद्ध होता है तो धर्म सिखाता है जिसे **"अप्पमाणो धम्मो"** याने अमित असीम धर्म कहा जाता है। उसके साथ **"बौद्ध"** विशेषण लगाना उस **"अप्पमाणो"** को "पमाणो" बना देना है। असीम को ससीम बना देना है। धर्म को संप्रदाय में बदल देना है। ऐसा करेंगे तो धर्म का अवमूल्यन हो जायेगा। अपरिमित धर्म को अपनी नैसर्गिक ऊंचाइयों से उतारकर उसे बौना बना देंगे। इसलिए किसी भी बुद्ध की शिक्षा को धर्म ही कहना समीचीन है बौद्ध धर्म नहीं।

क्योंकि बुद्ध की शिक्षा तो अप्पमाणो है, असीम है, अपरिमित है। बुद्ध की शिक्षा है–

1. **"सब्ब पापस्स अकरणं"** सभी पापों को न करें। याने ऐसे काम न करें जो औरों को भी हानि पहुंचाए और अपना मन भी मैला करें और अपना अकुशल करें।

2. **"कुसलस्स उपसम्पदा"** कुशल कर्मों को संपादित करें, उसका संचय–संग्रह करें। याने ऐसे काम करें जो औरों का भी भला करें और अपना भी कुशल करें।

3. **"सचित्तपरियोदपनं"** अपने चित्त को धोते रहें, शुद्ध करते रहें। याने राग, द्वेष और मोह तथा तज्जनित सभी विकारों को दूर करते रहें।

इन तीनों शिक्षाओं में संप्रदाय की सीमा कहां से आयी भला? मनुष्य मनुष्य के विभाजन की सीमा कहां से आयी? यह तीनों की तीनों सार्वजनीन शिक्षाएं हैं। अकुशल कर्मों से सभी को बचना चाहिए। केवल किसी एक संप्रदाय या जाति के व्यक्तियों को ही नहीं। इसी प्रकार कुशल कर्म सभी को करना चाहिएं चित्त के मैल भी सभी को धोने चाहिए। शील, समाधि और प्रज्ञा की यह तीनों शिक्षाएं सभी के लिए हैं। इसी माने में अप्पमाणो हैं, अपरिमित हैं, असीम हैं। किसी संप्रदाय या जाति के बाड़े में बंधी हुई नहीं हैं।

और यही तीन तो बुद्ध की शिक्षाएं हैं, बुद्ध का शासन है।

"एतं बुद्धान सासनं" और ये किसी एक बुद्ध की शिक्षा नहीं। किन्हीं दो की नहीं, सौ की नहीं; सभी बुद्धों की शिक्षा है। सभी बुद्धों का यही शासन है। केवल गौतम तक सीमित नहीं। जो बोधि प्राप्त कर ले वही बुद्ध। कोई बुद्ध हो, यही सार्वजनीन शिक्षा देता है। लोगों को यही सार्वजनीन धर्म सिखाता है। उसकी शिक्षा किसी संप्रदाय तक सीमित नहीं रहती। किसी नर, नारी, जाति, गोत्रा आदि के समूह तक सीमित नहीं रहती। इसी माने में सदा सार्वजनीन होती है।

वह किसी गांव नगर, प्रदेश, देश अथवा किसी भूखण्ड तक सीमित नहीं रहेगी। इसी माने में सार्वदेशिक है, सार्वभौमिक है। वह कभी पुरानी नहीं पड़ती, बासी नहीं हो जाती। सदा शाश्वत बनी रहती है।

"सतं च धम्मो न जरं उपेति" – भूत, वर्तमान तथा भविष्य

तीनों कालों में तरोताजा बनी रहती है। सब समय धारण करने वालों को एक जैसा सुफल देती है। इस माने में सार्वकालिक होती है।... **"एस धम्मो सनन्तनो।"**

किसी बुद्ध का धर्म देश, काल या व्यक्ति की सीमा में आबद्ध नहीं होता। इसी माने में **"धम्म"** अप्पमाणो होता है।

साधकों! कोई बुद्ध होता है तो सार्वजनीन धर्म ही सिखाता है। वह कोई संप्रदाय स्थापित नहीं करता। यदि कोई संप्रदाय स्थापित करता है तो समझ लेना चाहिए कि वह व्यक्ति बुद्ध नहीं, शुद्ध नहीं, मुक्त नहीं है। अभी उसमें कुछ कमी है। अभी स्वयं भी ससीम है, असीम नहीं हुआ। बुद्ध तो स्वयं असीम होता है। **"अप्पमाणो बुद्धो"...** किसी जाति, वर्ण अथवा देश–प्रदेश की सीमा में बंधता नहीं। वह सबका होता है। किसी "अप्पमाणो बुद्ध" की शिक्षा याने "अप्पमाणो धम्मो" का पालन करने वाला व्यक्ति शील, समाधि और प्रज्ञा के मार्ग पर चलते चलते अपने चित्त को शुद्ध करता है और इसी जीवन में सभी ससीम लोकों के परे असीम इंद्रियातीत परम निर्वाणिक सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। ऐसे किसी एक व्यक्ति को भी संघ कहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के समूह को भी संघ कहते हैं। यह सभी निर्वाणदर्शी अर्हंत "अप्पमाणो" होते हैं। इसलिए संघ भी "अप्पमाणो"। ऐसे निर्मल चित्त संत को कोई जाति, वर्ण, गोत्रा या संप्रदाय का बाड़ा कैसे बांध सकता है? जैसे भिन्न–भिन्न नदी–नाले गंगा में गिरकर गंगा ही बन जाते हैं जैसे गंगा, गोदावारी, कावेरी आदि भिन्न–भिन्न नदियां समुद्र में गिरकर समुद्र ही बन जाती है। जैसे गुलाब, चमेली, कदंब, कमल आदि भिन्न–भिन्न फूलों से इकट्ठा किया हुआ पराग एक रस मधु ही बन जाता है, वैसे ही अप्पमाणो धर्म में समाहित व्यक्ति अपने जाति, वर्ण, गोत्रा, संप्रदाय सब खो देता है। और स्वयं अप्पमाणो हो जाता है। धम्म भी अप्पमाणो, धम्म सिखाने वाला बुद्ध भी अप्पमाणो और धर्म के रास्ते चलकर मुक्त हुआ संत, अर्हंत संघ भी अप्पमाणो। ये तानों अप्पमाणों हैं, असीम हैं, अपरिमित है। इन्हें न कोई देशकाल की सीमा, न कोई जाति, वर्ण, गोत्रा व संप्रदाय की सीमा बांध सकती है।

साधकों! हमारा सद्‌भाग्य है कि शुद्ध, सार्वजनीन धर्म एक बार फिर जागा है। एक बार फिर पूरब से सूरज उदय हुआ है। सब को प्रकाश देने वाला, सब को जीवन देने वाला, सब के मन का अंधियारा दूर करने वाला धरम का सूरज। सांप्रदायिक बेड़ियों को भंग करने वाला, जाति–पांति की दीवारों को तोड़ने वाला, कर्मकांड के कटघरों से लोगों को बाहर निकाले वाला, काल्पनिक दार्शनिक मान्यताओं के जंजालों से छुटकारा दिलाने वाला महामंगलम धर्म। सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक सनातन धर्म।

आओ! इसका स्वागत करें! इसे धारण करें! शुद्ध धर्म के शासन में अनुशाशित हों! अपना कल्याण मंगल साध लें।

धम्मवाणी

कतमे द्वे पुग्गला दुल्लभा लोकस्मिं?
यो च पुब्बकारी,
यो च कतञ्ञू कतवेद– इमे द्वे पुग्गला
"दुल्लभा" लोकस्मिं ।।

– पुग्गलपञ्ञत्तिपालि ३९

कौन–से दो (प्रकार के) पुरुष संसार में दुर्लभ हैं? जो पूर्वकारी (परोपकार करने वाले) हैं और जो कृतज्ञ, कृतवेदी यानी उपकार को स्मरण रखने वाले हैं।

– ये दो प्रकार के पुरु संसार में **"दुर्लभ"** हैं

धन्य हुई सुजाता !

डॉ॰ संघमित्रा बौद्ध

उस समय उरुवेला प्रदेश में सेनानी नामक ग्राम में एक सम्पन्न गुहपति रहता था। उसकी गुणी एवं रूपमयी कन्या का नाम **'सुजाता'** था। उसको अपने सौंदर्य पर बिल्कुल भी अभिमान नहीं था। दूर–दूर तक उसके सौंदर्य और गुणों की प्रशंसा होती थी। गुणों से सम्पन्न सुजाता को गांव के समीप वट–वृक्ष के प्रति बहुत श्रद्धा थी। उस समय यह मान्यता थी कि जो कोई भी श्रद्धा से वट–वृक्ष से जिस वस्तु की कामना करता था, वह अवश्य पूर्ण होती थी। सुजाता धार्मिक–विश्वास रखने वाली स्त्री थी इसलिए उसने भी वट–वृक्ष के प्रति मन्नत मानकर यह प्रार्थना की थी–'यदि समान जाति के कुल–घर में विवाह होगा और प्रथम पुत्र–लाभ होगा, तो प्रतिवर्श एक लाख मुद्रा के व्यय से पूजा करूँगी।'[1] सुजाता की प्रार्थना पूर्ण हुई।

संयोगवश, तभी गौतम बुद्ध की दुश्कर तपस्याचर्या के छः वर्श बीत चुके थे।[2] सुजाता ने वट–वृक्ष की पूजा के निमित्त आयोजन किया। वैशाख पूर्णिमा के प्रातः ही उसने शुद्ध गाय के दूध से खीर पकाकर, अपनी सेविका पूर्णा को वट–वृक्ष के चबूतरे की सफाई करने के लिए भेजा, उधर बोधिसत्व भी प्रातःकाल शौचादि करके भिक्षा काल की प्रतीक्षा करते हुए उसी वृक्ष के नीचे आकर बैठे। जब सुजाता की दासी पूर्णा ने उन्हें देखा तो समझा की वृक्ष देवता स्वयं अपने हाथ से पूजा ग्रहण करने के लिए बैठे हैं। यह जब पूर्णा ने सुजाता को बताया तो वह बहुत प्रसन्न हो उठी। वह खीर को स्वर्ण–थाल में रख कर दूसरे सोने के थाल से ढँक कपड़े से बाँधकर सब अलंकारों से अलंकृत हो, थाल को अपने सिल पर रख वृक्ष की ओर चल पड़ी और बोधिसत्व को उक्त स्थान पर देख कर अत्यन्त प्रसन्न हुई। उन्हें वृक्ष–देवता समझकर सम्मानपूर्वक सिर से थाल को उतारा और स्वर्ण के जलपात्र से सुगन्धित जल लेकर बोधिसत्व के पास खड़ी हुई। बोधिसत्व ने दाहिने हाथ को फैलाकर जल ग्रहण किया। सुजाता ने पात्र सहित खीर को उन्हें अर्पण किया। बोधिसत्व ने सुजाता की ओर देखा। उसने कहा– **'आर्य,** मेरे द्वारा दिये भोजन को ग्रहण कर यथारुचि पधारें।' कह वन्दना की और फिर 'जैसे मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ, वैसे ही आपका भी पूर्ण हो।'[3] कहकर एक लाख मुद्रा के मूल्य की स्वर्ण–थाली को उस पूराने पत्तल के समान छोड़कर चल दिया।

बोधिसत्व ने बैठे हुए स्थान से उठकर वृक्ष की प्रदक्षिणा करके, निरंजना नदी की ओर चले गये। उन्होंने थाली को किनारे रखकर, निरंजना नदी में स्नान किया। पूर्व दिशा की ओर मुख करके उस मधुर खीर का केवल तीन कवल में भोजन किया। फिर उस स्वर्ण थाली को यह कह कर नदी में फेंक दिया कि "यदि मैं बुद्ध हो सकूँगा, तो यह नदी की धारा के प्रतिकूल जाय तथा यदि नहीं हो सकूँगा तो धारा के अनुकूल जाऐ।"[4]

वह थाली धारा को चीरती हुई नदी के बीच में धारा के प्रतिकूल जाकर एक गडढे में निमग्न हो गई। तत्पश्चात् बोधिमण्ड में बैठे रहने पर यही खीर का आहार उनचास[5] दिन का आहार बना। इतने समय तक उन्होंने न दूसरा आहार किया, न स्नान, न मुख धोवन, न शारीरिक शौचादि क्रियायें ही की। ध्यान–सुख, मार्ग–सुख तथा फल–सुख के अनुभवन में समय व्यतीत किया।

बोधिसत्व सिद्धार्थ ने मधुर खीर को ग्रहण कर आशा और दृढ़ संकल्प से सन्नद्ध होकर उरुवेला से गया के लिए प्रस्थान किया। वहाँ उन्होंने एक पीपल–वृक्ष देखा। नये–प्रकाश की आशा में अपनी समस्या का हल सकें, उन्होंने इस वृक्ष के नीचे ध्यान लगाकर बैठने का निर्णय करके सिंहगति से बोधिव्क्ष के पास गये। बोधिसत्व बोधिमण्ड पर चढ़कर प्रदक्षिणा करते हुए पूर्व दिशा में पश्चिमाभिमुख खड़े हुए। यह दिशा बुद्धत्व प्राप्ति के लिए उपयुक्त थी क्योंकि पूर्व दिशा ही सभी बुद्धों का बैठने का स्थान है, जो न भय से व्याप्त होता है, न कम्पित।[6]

उस पीपल वृक्ष के नीचे बोधिसत्व सीधा पद्मासन में बैठे। सम्बोधि प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प करते हुए उन्होंने निचश्य किया– "चाहे मेरी त्वचा, नसें और हकि्याँ ही बाकि रह जाए, चाहे मेरा सारा मांस और रक्त शरीर में ही सूख जाए, किन्तु बिना सम्बोधि प्राप्त किये मैं इस आसन से नहीं उठुगाँ।"[7]

उस समय मार–आक्रमण, मार–पराजय इत्यादि घटना घटित हुई। बोधिसत्व सिद्धार्थ वैशाख पूर्णिमा के दिन बोधिवृक्ष के तले बुद्धत्व प्राप्त करके सम्यक् सम्बुद्ध हो गए।

अतः सुजाता की मधुर खीर पुण्यदायी भोजन बनकर बुद्धत्व प्राप्ति में सहायक सिद्ध हुआ। करूणा से भरे बुद्ध ने अपने अंतिम समय में कहा – "दो भोजनदान समान पुण्यदायी और गुणी हैं और अन्यों से बहुत ही ऊँची श्रेणी के भी हैं–एक जिसे पा कर तथागत सम्यक् संबोधि को प्राप्त करते हैं और दूसरा, जिसे पा कर महारिनिर्वाण.....[9] धन्य हुई सुजाता!

साँची–तोरण की बंडेरियों पर सुजाता का दृश्य अंकित है। निरंजना नदी के किनारे सुजाता द्वारा भोजन का अर्पण तथा नदी पार पीपलवृक्ष नीचे तपस्या।[9] सोलहवीं गुफा की दाई दीवार पर गौतम बुद्ध को सुजाता द्वारा खीर भेंट का दृश्य दर्शाया गया है।[10]

संदर्भ संकेत

1. जातकट्ठकथा (अविदूरेनिदान), सुजातायं पायासं, पृ. 170.171
2. वही
3. वही
4. महापरिनिब्बाण–सुत्त; दीघनिकाय–2/3,पृ. 140
5. जातकट्ठकथा (अविदूरेनिदान), सुजातायं पायासं, पृ. 170.171
6. जातकट्ठकथा (अविदूरेनिदान), बोधिमण्डाभिरोहण, पृ.176–177
7. जातकट्ठकथा (अविदूरेनिदान), बोधिमण्डाभिरोहण, पृ.176–177
8. जातकट्ठकथा (अविदूरेनिदान), बोधिमण्डाभिरोहण, पृ.176–177

"Do not believe in what you have heard;
do not believe in the traditions because
they have been handed down for generations;

do not believe in anything because it is rumoured
and spoken by many;

do not believe merely because a written statement of some old sage is produced;

do not believe in conjectures, do not believe in that truth to which you
have become attached by habit;

do not believe merely the authority of your teachers and elders. After observation and analysis,
when it agrees with reasons and it conducive to the good and gain of one and all,
then accept it and live up to it. Pray do not, therefore,
believe me when I come to the philospophical issues until and unless you are convinced of what I say,
either as a sequel to proper reasoning or by means of a practical approach"

Dr. B.R.Ambedkar and His Conversion to Buddhism

SUNNY KUMAR
Research Scholar
Department of Buddhist Studies, D.U.

Dr. B.R. Ambedkar is one of the most eminent personalities of the 20th century India. Babasahab, as he is popularly known was a determined fighter, a deep scholar and an intellectual who stood for and made significant contribution to lead the society towards liberty, equality and fraternity. While the world is celebrating 125th Birth anniversary of the great social reformer, the Indian constitution that he chaired is at full play in the making of the modern India. B.R. Ambedkar stood and crusaded for the whole of his life for the oppressed and the downtrodden. He stood against the caste discrimination and the religious notions on which the caste was founded.

He is also considered as one of the pioneers behind the revival of Buddhism in India. His first contact with the Buddhism occurred in 1908 when he had just passed the matriculation examination. Being from a Mahar caste that was considered untouchable, the achievement was considered so extraordinary that the Mahars celebrated the occasion with a public meeting in his honour. In the meeting, his teacher KrishnajiArjunKeluskar, a Brahmin by birth presented him a published copy of his book named 'Life of Gautam Buddha'. This book had a deep impression of the young mind of Bhimrao. Later on it was the efforts of the same teacher that the Maharaja Gaekwad of Baroda granted Bhimraothe scholarship to continue his higher education.

The study of Buddhism gave Dr. B.R. Ambedkar a completely new dimension to his understanding of the prevalent social problems of the country. He adopted Buddhism in 1956 at Nagpur which unquestionably was a historical move to question the evils that were being practiced within the Hindu society and bring a reform within it.

All the religions have some system of beliefs and practices that does not have even the slightest of scientific evidences against them. Buddhism was basically a revolt against those beliefs and practices that became prevalent within the society with time. Buddha was a rationalist to the core and always discouraged people from forming opinion based on blind faith. This approach of Buddha was bound to influence the young mind of Ambedkar which was naturally in search of a refuge to move away from the dogmatic approach of the society or metaphysical propositions about the nature of reality. For Ambedkar, Buddhism was the only answer to the evil practices that became prevalent in the Hindu religion.

Other thing that the Ambedkar questioned about Hinduism was the concept of caste system which was completely opposed to the democratic principles of liberty, equality and fraternity. The distinction in modern times was not at all based on the nature and so a social and just society could not be created.

The teachings of Buddha had a great impact on the society. The evident problems of the Hindu religion were softened greatly by the teachings of the AdiShanakaracarya who reasoned that all the human soul was merely the manifestation of one Brahma or the Universal soul and that all men are equal. There were other Hindu saints also like Tukaram and Jnaneswara whose teachings and philosophy were concerned with the basic social attitude towards the downtrodden. But, in practicality the inequalities and the caste system with all its evils have become a part

of society's practices, which are completely against the teachings of the AdiSankaracarya.

Dr. Ambedkar was therefore of the view that Buddhism is very modern in its approach towards the social disparities and would be an answer to the prevailing practice of caste system in the Hindu religion.

The first reference by Ambedkar to conversion of the untouchables was made in 1927 during the Mahad Conference where he said: “We want equal rights in society. We will achieve them as far as possible while remaining within the Hindu fold or, if necessary by kicking away this worthless Hindu identity. And if it becomes necessary to give up Hinduism it would no longer be necessary for us to bother about temples”. A resolution for the same was passed during the JalgaonDeressed Classes Conference on March 27th 1927.

Few days later some Mahars converted to Islam, which led several orthodox Hindus to introspect and acted immediately in a way that the Untouchables of the region had an access to two new water wells. Ambedkar's interest in Buddhism seems more evident in the 1940's when he named his first college Siddhartha, the first name of Buddha. In 1948, Ambedkar republished 'The Essence of Buddhism' whose author, LakshmanNarasu, was a social reformer and a freedom fighter. In the same year he also published 'The Untouchables' in which he mentioned the untouchables to be the descendants of the Buddhists.

During the same period Ambedkar prepared for his adoption to Buddhism and getting the official recognition of the religion. He further also opposed K.M. Munshi's amendment which could have forbid the conversion of minors. In the year 1950, Ambedkar went to Sri Lanka and began compiling Buddha's teachings. On his return he appealed the Untouchables to adopt Buddhism. It was October 1956, a few weeks before his death on 6th December 1956, when Ambedkar along with his followers adopted Buddhism. Buddhism was certainly the best choice for Dr. B.R. Ambedkar as it was an egalitarian religion born in India and was not a creation of any outsider.

Dr. Ambedkartried all kinds of strategies during his life time in order to eradicate caste system and more especially emancipate the Dalits or the Untouchables from this unjust social system. Ambedkar sought for reforms at the grassroot level starting from the education as his first goal and reforms by the state as is clearly evident in the Hindu code bill. Adopting Buddhism was Ambedkar's last resort in order to make a society with democratic values of Liberty, Equality and Fraternity. Dr. Ambedkar in fact did not take refuge in the religion. He rather saw the democratic values imbibed in Buddhism which could endow the Dalits with a new identity; a radiant, confident, dignified and renewed individual that garnersrespect for not their labels, but for who they are.

If a modern society today suffers from any failure it is due to the fact that it has not been able to create a body of intellectuals or reasonablesociety who could have by their thoughts and behavior shown the beacon of light to the society. Ambedkar can certainly be termed as the torch bearer for the upliftment of the society. The contribution of Ambedkar in the making of the modern India is certainly substantial than any other leader of the era. Today the constitution that he helped in drafting has set the terms of social development and upliftment of even the last people in the row.

References

- Jaffrelot, Christophe, Dr, Ambedkar's Strategies Against Untouchability and the Caste System, in the Working Paper Series Vol. III Number 04, 2009, Indian Institute of Dalit Studies, New Delhi.
- Barlingay, W.S., Dr. Ambedkar and Conversion to Buddhism, New Delhi
- Singh, Ravi Shankar, Dr. B. R. Ambedkar's Role in Revival of Buddhism and It's Impact on Socio-Economic Development of Ignored Humanity in India.
- Chan, Loritta Ying Ping, The Spiritual Dimension of India's Dalit Buddhist Movement: The Untouchables' Self-Renewal (April 2015), Undergraduate Honors Thesis, Department of Asian Languages and Culture, University of Michigan, Ann Arbor

Know Vipallāsa to conquer Āsava

Narotam Singh **Amita Kapoor**

INTRODUCTION

In Vipallāsa Sutta (Aṅguttara Nikāya 11.52), Buddha describes the fourfold perversions which can exist at any of these levels viz: perception (saññā), mind (citta) and view (ditthi). These perversions do not let us see the truth, the real, i.e. impermanence (anicca), suffering (dukkha), non-self (anatta) and pure (shubhe). Buddha further says, that

Te yogayuttā mārassa,
ayogakkhemino janā;
Sattā gacchanti samsāram,
jāti-ma-ra-nagā-mino.

meaning, that beings under the influence of Vipallāsa are constrained by Mara's yoke, from this yoke they are never released, instead they continue to meander in the cycle of life and death [1,2].

The Āsavagocchaka of Dhammasanganī (verse 1092) specifically tells the seeker that there are four types of āsava: kāmāsava, bhavāsava, ditthāsava and avijjāsava. "Katame dhammā āsavā? Cattāro āsavā – kāmāsavo, bhavāsavo, ditthāsavo, avijjāsavo". Buddha even tells his bhikkus "That one whose senses are subdued, like steeds well-trained by a charioteer, one whose pride is destroyed, and who is free from the āsava (anāsava)— such a steadfast one even the devtas hold him dear"1. In crystal clear words, Tipi aka, mentions in many suttas, verses and tales, that it is necessary to be free from āsava, (anāsava) for achieving nibbāna.

Vipallāsa and āsava, thus, seem to have same consequence, are the two related, if yes how? In this paper we explore in detail what is vipallāsa, what is āsava, and if there is any relationship between the two. And finally investigate, if Buddha has enligthtened a way to be free from vipallāsa and āsava, and thus become arhat.

Vipallāsa: The perversion of perception, mind and view

Vipallāsa translated as perversions, corruption, derangement, delusions, distortions etc., is taking that which is true as being false, that which is false as true. The word Vipallāsa is composed of a prefix (vi-) that carries the sense of division, separation or removal, followed by another prefix (pari-) meaning around or complete, and finally a verb (-as), which means, "to throw". Taken together, the word symbolizes an image of mind taking something up, turning it around (opposite) and throwing it back down, i.e., a distortion or perversion of reality by the perceptual and cognitive apparatus of the brain [3]. In Vipallāsa sutta, (Aṅguttara Nikāya II.52), Buddha sheds light on Vipallāsa, he tells that there are four types of perversions of mind (saññavipallāsa), perversions of thought (cittavipallāsa) and perversions of view (ditthivipallāsa):

1. **Anicce niccan ti,** what is impermanent is taken to be permanent. Everything changes; we take birth, grow young, get mature, become old and die. From birth to death, we are not same; we change in form, in thoughts and even in wisdom.

2. **Dukkhe sukhan ti,** what is painful is taken to be pleasurable. Ask any person fond of sweets, when the pack of sweets come in front, they make all sorts of excuses to enjoy the pleasure, and later suffer from obesity/diseases.

3. **Anattāni attan ti,** what is non-self is taken to be self. One of the most common delusions we have is of 'I' and 'mine'. I did this thing (and so I should get credit!), this money, that man, that woman, this child, this house, this car, etc., is mine (and so they should obey my wishes!). While, in reality everything is non-self.

4. **Asubhe subhan ti,** what is impure is taken to be pure. Most human beings spend there time, and energy in uplifting physical body and fulfilling its bodily desires. They think if body is pure they are pure, if the clothes they wear are beautiful, they are beautiful. But clean body, expensive clothes do not make us pure.

Our senses, our thoughts and our views covered by the veil of delusions/perversions, do not let us "See the things the way they are" [3]. Only Arhats see things the way they are. We just see the things the way Vipallāsa shows us. We perceive according to our views, and what we perceive further strengthens our views! The following verse by Buddha, very beautifully encapsulates the essence and consequence of Vipallāsa:

Anicce niccasaññino, dukkhe ca sukhasaññino;
anattani ca attāti, asubhe subhasaññino;
micchāditthihatā sattā, khittacittā visaññino.
Te yogayuttā mārassa, ayogakkhemino janā;
Sattā gacchanti samsāram, jāti-ma-ra-nagā-mino.

Translated as those who perceive the permanence in the impermanent, and perceive pleasure in pain, who perceive self in the not self, and purity in the impure, they are beings fallen into wrong view, mentally deranged, twisted in perception. They are caught in Māra's grasp, a generation that has no security from the bondage, Beings who go through samsara, heading for birth and death [1,2].

Āsava

According to early Buddhists texts, āsava, (cravings, desires, cankers) is the basis of holding a person in samsara, only Arahat is free from it, it is the kernel of transmigration, āsavā, is the seed of Pratītyasamutpāda [4,5].

The Āsavagocchaka of Dhammasanganī (verse 1096) specifically tells the seeker that there are four types of āsava: kāmāsava, bhavāsava, ditthāsava and avijjāsava. "Katame dhammā āsavā? Cattāro āsavā – kāmāsavo, bhavāsavo, ditthāsavo, avijjāsavo". Let us explore each one of them in details:

1. **Kāmāsava2:** The desire for sensual pleasure, lust for pleasure, craving for pleasure, joy for pleasure, relationship for pleasure, going to all means for the fulfillment of pleasures forms kāmāsava. A being under its influence forgets what is right, what is wrong; he is guided by just the desire/the craving/the passion of fulfillment of his pleasure. 2. Bhavāsava3: The desire of existence, attachment or lust of existence, joy in existence, craving for existence, friendship/relationship for existence, and passion for existence they all constitutes bhavāsava. Beings want to have continued existence; they try to achieve it through means of enduring fame, through the act of progeneration etc.

3. **Ditthāsava4:** Different beings have attachments to different views about life, God, religion, what is right, what is wrong etc. They all believe that only their view is the right view. Having this form of attachment to one's view is ditthāsava.

4. **Avijjāsavo5:** "Is lack of knowledge about Ill, lack of knowledge about the uprising of Ill,

> lack of knowledge about the cessation of Ill, lack of knowledge about the way leading to the cessation of Ill; lack of knowledge about the former things, about the latter things and about both taken together; lack of knowledge about the assignable causation of causally determined states — even all that kind of lack of knowledge which is lack of insight, of understanding, of wakefulness, of enlightenment, of penetration, of comprehension, of sounding, of comparing, of contemplation, of perspicacity; impurity, childishness, unintelligence, the dullness that is stupidity, obtuseness, ignorance, a flood of ignorance, the yoke of ignorance, the dependence of ignorance, the being possessed by ignorance, the barrier of ignorance, this is called avijjāsavo".[6]

Beings are driven by desire, desire for pleasure, desire for existence and ignorance of the four noble truths. Driven by this desire they continue their existence through the cycle of life and death. They are unaware of the fact that it is desires, which control them, they are unaware of the origin of those desires, and they have no knowledge of the path through which they can be free from these desires. Thus, being slave of their desires they stay in samsara.

Relation between Vipallāsa and Āsava

Vipallāsa distort being's mental eyes and cognitive abilities and make him see pleasure in suffering, permanence in impermanent, self in non-self, and pure in impure. Being's under the influence of these perversions stay in the Mara's grasp, and are bounded to the circle of life and death. āsava, too, drives the beings towards suffering, towards renewal, and lead to future birth, ageing and death. The question then naturally arises, about the relationship between Vipallāsa and āsava. Are they same, are they different, in what ways are they same and in what ways are they different. In Sabessasava sutta (Majjhima Nikaya I.6), Buddha tells, "When a monk attends inappropriately, un-arisen fermentations arise, and arisen fermentations increase. When a monk attends appropriately, un-arisen fermentations do not arise, and arisen fermentations are abandoned", This statement seems to suggest that when a disciple attends inappropriately, that is through the colored glasses of perversions, then the āsava yet not present arise, and those already present increase. And similarly, when he attends appropriately, that is removing the colored glasses of perversions, then the āsava yet not present do not arise, and those already present gets subdued.

Man not knowing the true nature of things (Vipallāsa), desires, craves (āsava) for them. He thinks if he will have them he will get pleasure, happiness. But, in reality, if he gets them then he suffers, and if he does not get them then also he suffers. Man explores the world, searching everywhere, in everything happiness, he gets it for short term, but in the end all that seems to give pleasure in reality turns out to be the source of suffering. Under the influence of these perversions man is bounded to cravings (āsava), these cravings keep man bounded to circle of life and death, samsara. Thus vipallāsa gently keeps the being in the cradle of āsavā and keeps in the realm of Mara.

Solution: Majjhimā-patipadā

So is the man doomed, with vipallāsa and āsava,, surrounding him, each increasing the other, or is there a way out? Can a man ever get out of this circle? We again refer to Tipitaka for the answer.

In Vipallāsa Sutta (Aṅguttara Nikāya 11.52), Buddha tells [1]

"But when Awakened Ones
Arise in the world,
Bringing light to the world,
They proclaim the Dhamma
Leading to the stilling of stress.
When those with discernment listen,
They regain their senses,

Seeing the inconstant as inconstant,
The stressful as stressful,
What's not-self as not-self,
The unattractive as unattractive.
Undertaking right view,
They transcend all stress & suffering"

The Samyutta Nikāya's (V.56), Āsavasutta, gives a clear direction that the Noble Eightfold Path is to be developed for direct knowledge of these three āsava, for the full understanding of them, for their utter destruction, and for their abandoning6. From this we conclude that yes there is a path, the 'Middle Path', or the Noble Eightfold Path given by Buddha. Following the Noble Eightfold Path i.e., developing the right view, right intention, right action and speech, right livelihood, right effort, right mindfulness and right samadhi the being knows vipallāsa and conquers āsava, thus reaches enlightenment and gets liberation from suffering.

References

1 *Yassindriyāni samatha gatāni assā yathā sārathinā sudantā Pahī amānassa anāsavassa Devā pi tassa pihayanti tādino. (Dhammapada verse 94)*
2 *Tattha katamo kāmāsavo? Yo kāmesu kāmacchando kāmarāgo kāmanandī kāmata hā kāmasineho kāmapari āho kāmamucchā kāmajjhosāna – aya vuccati kāmāsavo. (Dhammasa ga ī* verse 1097*)*
3 *Tattha katamo bhavāsavo? Yo bhavesu bhavachando [bhavacchando (sī. syā.)] bhavarāgo bhavanandī bhavata hā bhavasineho bhavapari āho bhavamucchā bhavajjhosāna – aya vuccati bhavāsavo. (Dhammasa ga ī* verse 1098*)*
4 *Tattha katamo di hāsavo? Sassato lokoti vā, asassato lokoti vā, antavā lokoti vā, anantavā lokoti vā, ta jīva ta sarīranti vā, aññā jīva aññā sarīranti vā, hoti tathāgato para mara āti vā, na hoti tathāgato para mara āti vā, hoti ca na ca hoti tathāgato para mara āti vā, neva hoti na na hoti tathāgato para mara āti vā; yā evarūpā di hi di higata di higahana di hikantāro di hivisūkāyika di hivipphandita di hisa yojana gāho pa iggāho abhiniveso parāmāso kummaggo micchāpatho micchatta titthāyatana vipariyāsaggāho – aya vuccati di hāsavo. Sabbāpi micchādi hi di hāsavo. (Dhammasa ga ī* verse 1099*)*
5 *Tattha katamo avijjāsavo? Dukkhe aññā a , dukkhasamudaye aññā a , dukkhanirodhe aññā a , dukkhanirodhagāminiyā pa ipadāya aññā a , pubbante aññā a , aparante aññā a , pubbantāparante aññā a , idappaccayatā pa iccasamuppannesu dhammesu aññā a ya evarūpa aññā a adassana anabhisamayo ananubodho asambodho appa ivedho asa gāhanā apariyogāhanā asamapekkhanā apaccavekkha ā apaccakkhakamma dummejjha bālya asampajañña moho pamoho sammoho avijjā avijjogho avijjāyogo avijjānusayo avijjāpariyu hāna avijjāla gī moho akusalamūla – aya vuccati avijjāsavo. (Dhammasa ga ī* verse 1100*)*
6 *Imesa kho, bhikkhave, ti anna āsavāna abhiññāya pariññāya parikkhayāya pahānāya ... aya ariyo a ha giko maggo bhāvetabbo"ti.*

Bibliography

1. Thanissaro Bhikkhu, Handful of Leaves, Vol 3, pp 82-83, 2003.
2. Thera, Nyanaponika. "The Three Basic Facts of Existence I: Impermanence (Anicca)." The Wheel (1981).
3. Dr. W.F. Jayasuriya, Psychology & Philosophy of Buddhism.
4. Narotam Singh, Amita Kapoor, Kernel of transmigration: Asava, Bodhi Path, vol (10), pp 52-57, 2015.
5. Narotam Singh, Amita Kapoor, Asava in Early Buddhism, National conference at Landnu Rajasthan October 2015.
6. Hardy, E., and Caroline AF Rhys Davids. "A Buddhist Manual of Psychological Ethics of the Fourth Century BC." (1901): 129-138.

यो च बुद्धञ्च धम्मञ्च सघंञ्च सरणं गतो।
चत्तारि अरियसच्चानि सम्पप्पञ्ञाय पस्सति।।

दुक्खं दुक्खसमुप्पादं दुक्खस्स च अतिक्कमं।
अरियञ्चट्ठङ्गिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनं।।

एतं खो सरणं खेमं एतं सरणमुत्तमं।
एतं सरणमागम्म सब्बदुक्ख पमुच्चति।।

जो बुद्ध, धर्म और संघ की शरण गया, जिसने चार आर्य-सत्यों का-दु:ख, दु:ख की उत्पत्ति, दु:ख से मुक्ति और मुक्तिगामी आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग-सम्यक् प्रज्ञा से देख लिया है, यही रक्षादायक शरण है, यही उत्तम शरण है। इसी शरण को प्राप्त कर सभी दु:खों से मुक्त हो जाता है।

Universal Body : Entwined Six Elements

DR. ANANT
Department of Buddhist Studies,
University of Delhi, Delhi

The concept of entwined six elements in the universal body is a part of philosophical component of Shingon sect of Buddhism in Japan. The Six Great Elements are Earth (地大), Water (水大), Fire (火大), Air (風大), Space (虚空), and Consciousness (識). The first five are the tangible elements. The last or the sixth is the mind. Philosophically, there is no mind (citta) apart from matter and no matter is apart from mind. As a result, both are inter-dependent on each other. Similarly, the mind, thought and consciousness in the Buddhist philosophy are used as inter-changeable. The real natures of the six elements are that the ordinary eyes can only see the differentiated forms or appearances but the sage sees the unity. In the esoteric cult, the five tangible elements[1] are identified with the fingers of the hand starting with the little finger[2]. The little finger denotes water, ring finger—earth, the middle finger—space, the index finger—air and the thumb represents the element of fire. These are the fundamental things or elements of the universe and create all things. Mind is added as the sixth element. Vijñāna is the perception to know the six elements. These six elements are the component of the Dharma-body in the Shingon sect. The first five elements are the components of the physical dharma and these are put together in a shape and the body of the Mahāvairocana Buddha. This is known as "shikishin" (色身). "Shikishin" has two meanings: I. material body i.e. physical body (rūpa-kāya), and II. manifestation body of the Buddha in the world. In the Vajracchedikā Prajñāpāramitā-sūtra[3], it is known as "gusokushikishin" (具足色身) meaning "perfectly-formed body of the Buddha". Thus, this combines together with the sixth element 'consciousness which is the mind of a dharma-body'.

It is pertinent to understand the concept of consciousness where consciousness comes from unconscious[4] to sub-conscious[5] and from pre-conscious[6] to conscious[7] and finally into appearance i.e. physical[8]. This is called transpersonal. The consciousness which is not a form but a symbolic form of five elements such as Earth in a shape of cube, Water in a shape of sphere, Fire in a shape of pyramid, Air in a shape of hemisphere and the Space in a shape of jewel-form and all are accumulated with consciousness. And thus, each element has the seed syllables named 'am', 'vam', 'ram', 'ham', 'kham', 'hūm'. And the six great elements can be seen in our body through the help of meditation. And each element has its own color viz. yellow, white, red, green, and blue respectively.

The six elements are defined in the Mahāmāyūrī-vidyārājñī sūtra[9]: 佉佉盧陀等諸大神王。茶羅等六大神王。The meaning of the above mentioned Chinese statement is that the spirits of the six elements is represented as the Great Spirit which likes roaring, and is like terrible storm-gods, as a name of Śiva, as the Rudras or Maruts etc.

The sixth element Mind is described in the Discourse on the Theory of Consciousness[10] (Vijñapatimātratāsddhi-śāstra). It enlists eighteen compositional elements of cognition which include six sense faculties (eye, ear, nose, tongue, body and

mind), their six objects (The five sensory fields and the thought-field. The sensory fields are form, sound, odor, gustatory, and tactile and the thought field includes conceptual) and the six consciousnesses (the function of the six organs: eye, ear, nose, tongue, skin, and reasoning)[11]. The Discourse explains the six intrinsic accompanying relationships between the six faculties and their objects and mentions their separate functions.

In the Esoteric Buddhism, Buddha and the human elements are of the same substance and interchangeable as found in the Rénwáng bānruòjīng shū:[12] 十信者一精進心乃至第十迴向心。第四作六大觀四大．空．識也。This sūtra can be translated as describing the six great elements which comprise the ten faiths i.e. the first ten stages in the 52 stage path of the bodhisattva.

In the esotericism, the six elements penetrate each other with no hindrance. This comprises the six elements of enlightened human being or individual, and that of the Buddha, both blend perfectly without hindrance. All forms of a human existence and non-human existence are perfectly blended. Therefore, there is no obstruction among the six elements. The six elements are the observer and the observed. These are being inter-related. Shingon sect is 'neither a school of dualism nor of non-dualism. It is a theory of logic and is found in Mādhyamika Śāstra'.[13]

It is believed that the six elements are involved in human existence. Therefore, the Buddha nature can be expressed through these six elements. In another way, the Buddha's life force is based on a particular path. This particular path is easy to understand through Shingon sect. According to Shingon sect, the human existence comes to identify the Buddha's life-force that exists in the entire universe. This realization comes through meditation. For example, the body of six elements known as Rokudaishin is the body of Mahāvairocana Buddha. The bodies of six elements consist of three components 1) six elements; 2) four kinds of ma alas; and 3) three mysteries i.e. Body, Speech and Mind. These three correspond to the substance, attribute and the function of the dharmakāya body. This dharmakāya body is Mahāvairocana Buddha. Now the pertinent question is how to become a Buddha in the present existence? Kōbō Daishi called this concept as "Sokushinjōbutsu". The doctrine of the Shingon sect reveals the path to be followed for becoming a Buddha in this present body (Sokushinjōbutsu). This path is explained by describing the body of the Mahāvairocana Buddha. The constitution of the body contains six elements which further has three constituting parts. Thus, the body of six elements, four ma alas and an additional three mysteries comprise this totality. This concept of becoming a Buddha in this human body is clearly explained in the two verses in eight lines:[14]

1) The six great elements mingled with each other in eternal harmony;

2) The four ma alas are inseparably connected;

3) The three mysteries of sentient beings are manifested rapidly by the influence of the capability of the Buddha's three mysteries;

4) Our existence is infinitely interconnected as so many gems in the nets in the heavenly palace of Indra;

5) Divinity is endowed with the wisdom that comprehends all;

6) The beings that have the consciousness of the King of the mind are more numerous than dusts;

7) Each of them has five wisdoms and infinite wisdom; and

8) Everything attains true Enlightenment with the wisdom like a mirror.

The essence of the dharmas is that they arise by dependent co-origination from the three

universals—Universal Essence, Universal Form, and Universal Function. However, there is no separation of the dharma and the Universals wherefrom they arise. So, there is the Universal Essence and the six elements are identical; Universal Form and the four mandalas are identical; and Universal Function and the three mysteries are identical. All of these fundamentals together are explained in the chart given below:[15]

Fundamentals of Six Elements

Element	Earth	Water	Fire	Air	Space	Consciousness
Property	Solidity	Moisture	Heat	Mobility	Unobstructed-Ness; freedom from Impediment	Perception
Function	Support	Quickening	Maturation	Growth	All-pervasiveness	Determination
Form	Cube	Sphere	Pyramid	Hemi-Sphere	Jewel-form Or composite	Formless
Color	Yellow	White	Red	Black	Blue	White or multi-colored
Seed Syllable	.	“va”	“ra”	“ha”	“kha”	_
Ultimate Meaning	Uncreated-ness	Ineffableness	Freedom from defilement	Freedom from causality	The attributes of Space	ungraspability, Voidness

In the Buddhist view, the origin of world is through the process of causal formation. Consequently, everything in the world comes to be and lives in this world because of a great life force which is invisible to the eye. In the individual life of each thing, this life-force takes many different forms and manifests itself as the individual life of each thing.

The concept of six great elements maintains that human beings together with everything else come to be as they are gifted with the six characteristics and functions of these elements. This is not simply the coming together of physical symbols, but in the sense that each element—1. Earth; 2. Fire; 3. Water; 4. Wind; 5. Space; and 6. Consciousness played a great activity of the life force. These all together are expressed as the six great elements. The six elements teach us that the universal life force, which is comprised of the six great elements, forms the basis of all things that have life in the same manner as we do, and that we are in a state of harmony in having the same essence as that of the life of the Buddha.

The great element that is the “Earth” indicates that the 'Earth' is the mother of life. 'Water' is the life which gives moisture to all things and nurtures, the power of life. 'Fire' is the element that gives us the energy and our life (Prāna)[16] that gives heat and vitality to all living things. The great element of 'wind' is best thought of as the breath of entire universe as in a constant movement. Each breath we take is a life itself. The element 'space' is the immense and eternal life of the universe that surrounds all things. The last element is the consciousness. This is the life of the spirit that is in all things and is the functioning of the five dhyāni Buddhas. All together, these six kinds of consciousness can be recognized through the consciousness of sight, hearing, smell,

taste, tactile (body consciousness), and mental consciousness (mind consciousness). These are the six kinds of consciousness which deal with their objects. Their objects are contact, feeling, perception, volition, and full awareness. This is the complete process of consciousness.[17]

At last the six great elements are identical with Universal Essence and have all the qualities of Suchness 'permanent', 'immutable', 'universally omnipresent', 'eternal' and 'indestructible'.

References

1 六大法性: Edward Soothill & Lewis Hodus, (compiler). A Dictionary of Chinese Buddhist Terms. 2003. p.134.
2 Edward Soothill & Lewis Hodus, (compiler). A Dictionary of Chinese Buddhist Terms. 2003. p. 207.
3 金剛般若波羅蜜經Jīngāngbānruòboluómìjīng or Kongōhannyaharamitsukyō means :Vajracchedika Prajñāpāramitā-sūtra, translated by Kumārajīva鳩摩羅什, 大正新脩,大藏經, Vol.8, No.235, P.751c5.
4 Unconscious like deep archetypal drives that we unconsciously seek to actualize in life. This drives for Self-actualization, universal meaning, soul-mate, gender role, parental role etc. (Corsini, R.J. & Wedding, D. (2011). Current Psychotherapies. (9th ed.). Belmont, CA: Brooks/Cole.)
5 Sub-conscious is fear of loss & abandonment; drives of love & belonging; the hurt & rejected child within—acted upon, but not normally conscious of.
6 Pre-conscious is feelings, thoughts, & memories touching awareness.
7 Conscious is—what I say, do, think, perceive, feel etc.
8 Health, Energy, and Relaxation.
9 孔雀王咒經 (Kongqiao wang zhou jīng;Kujyakuōjūkyō), translated by Kumārajīva 鳩摩羅什, 大正新脩大藏經,Vol.19, No.988,p.483a1.
10 成唯識論Chéng wéishìlùn shùjì;Jō yuishikiron jukki, by Kuījī窺基, 大正新脩大藏經, Vol.31,No.1585,p.19c28.
11 Six organs in their apprehension of the six objects of form, sound, smell, taste, touch, and symbols. It attained in the acts of seeing, hearing, smelling, tasting, touching and knowing.
12 仁王般若經疏Rénwáng bānruòjīng shū; Jinou hannyakyō so, by Jizang, 大正新脩大藏經,Vol.33, No.1707, p.348c5.
13 Nāgārjuna in his dedicatory verse of the Mādhyamika Śāstra, which runs as follows:
"The perfect Buddha, The foremost of all teachers I salute, He has proclaimed The Principle of (universal) relativity. 'Tis like Blissful (Nirvā a), Quiescence of plurality. There nothing disappears, or, anything appears,
Nothing has an end, nor is here anything eternal, Nothing is identical (with self), nor is there anything differentiated. Nothing moves, neither hither nor thither." (See: Junjirō Takakusu, The Essentials of Buddhist Philosophy, 1998. p.106).
14 Chikyo Yamamoto. History of Mantrayāna in Japan.1987. p.90.
15 Lama Anagarika Govinda. Foundations of Tibetan Mysticism. 1960. p. 19.
16 Prāna, the breath of life, the all-powerful, all-pervading rhythm of the universe, in which world creations and world-destructions follow each other like inhalation and exhalation in the human body, and in which the course of suns and planets plays a similar role as the circulation of the blood and the currents of psychic energy in the human organism. All forces of the universe, like those of the human mind, from the highest consciousness to the depths of the subconscious, are modifications of prāna. The word 'prāna' can therefore not be equated with the physical breath, though breathing (prāna in the narrower sense) is one of the many functions in which this universal and primordial force manifests itself. (See: Lama Anagarika Govinda, Foundations of Tibetan Mysticism.1960. p.137).
17 Lama Anagarika Govinda. Foundations of Tibetan Mysticism.1960. p. 71.

Reference

Corsini, R.J. & Wedding, D. (2011). Current Psychotherapies. (9th ed.). Belmont, CA: Brooks/Cole.
Govinda, Anagarika, Lama. (1960), Foundations of Tibetan Mysticism. Delhi: B. I. Publication, Delhi.
Takakusu, Juniro. (1998). The Essentials of Buddhist Philosophy. Delhi: Motilal Banarsidass Publishers.
Yamamoto, Chikyo. (1987). History of Mantrayāna in Japan, Delhi: Aditya Prakashan.

Dictionary

A Dictionary of Chinese Buddhist Terms, compiled by Edward Soothill & Lewis Hodus, Delhi: Motilal Banarsidass Publishers, 2003.

Survival along the Nest of Spies

LHUNDUP TSOMO BHUTIA
Phd. Resarch Scholar,
Buddhist Department, D.U.

The year 1962 saw the war with Peoples Republic of China which proved to be a focal point in this Himalayan belt where in a small hamlet amid the two hills (of now popularly known as Deolo and Durpin) Kalimpong also known as Ka-Lem-Pung or Kalon-Pung. This place got its politically acclaimed name described as the "Nest of Spies" by late Pundit Jawaharlal Nehru, the first Prime Minister of Independent India in his letter to Zhou Enlai, the Chinese Premier of the Peoples Republic of China, prior to the Sino- Indian war.

Kalimpong was and still is home to many sections of society, they can be segregated in terms of religion, caste, and the place where they were born, settlers form different parts of India and foreign lands have made this region a home and some still continue to stay either in person or through their mortal remains. Because of trade with Tibet and its proximity to the land where Buddha was born and preached, it was through Kalimpong pilgrims from Tibet travelled to Bihar (Bodh Gaya).

This nest was a vital and the only feasible and easily accessible route to the forbidden kingdom and its mysterious hidden lands and treasures which was to some extent untouched by the western influences. Trade between India and Tibet prior to Independence, when the British were present had started and prevailed even after independence till the Sino-Indian war of 1962. This route through Kalimpong to Pedong (in Kalimpong sub-division) via Jelep-la into Tibet was the easiest route for traders and pilgrims to travel as the road was accessible even during winters, where as the other routes would be covered with snow which made it next to impossible to travel. This route was said to be the most convenient and predictable route taken by the travelers or pilgrims travelling to and from Tibet and India. It was believed to be so convenient that the Chinese had, to some extent predicted His Holinesses the 14th Dalai Lamas escape through this particular route and had set up barricades to prevent his travel into India.

Col. Young Husband too had his troops and expedition take this route through Kalimpong and had kept a considerable amount of troops and ammunition in this nest before he proceeded into Tibet. The presence of Chinese in this part of the country was felt much before the war (Sino- Indian) as there was a Chinese stronghold in the present day mill Gompa (Monastery) grounds above beralu kothi which was given by the Pangdatshang family to the Chinese which was used to provide permits for trade and monitor the Tibetans going into and coming from Tibet prior to the Sino-Indian war of 1962. Here one recalls a festive season during the Chinese New Year, where even the local eminent/ influential people were invited and treated to fine Chinese cuisine and wine among other cultural extravaganza.

The war of 1962 which lasted for just close to a month saw the trade collapse between Tibet and India as all routes were closed and trade came to a standstill. Amongst scene of chaos and shortage of basic necessities with the fear of Chinese invasion also looming about the minds of the people in this small sub-division, a lot of hardship followed. As the war came ashore where ration, essential items and medical aid were of short supply and Strict Government norms were to be followed with utmost discipline emergency

was declared. In this scenario a courageous young man who had been in the transport business stood up to serve the society where he was given the responsibility to organize a division of Home Guards by the Government, as he was assigned as an honoree commandant. Mr. Tashi Pempa Hishey served with his initial sixty odd personal, implied government norms and helped the society in this hour of need to his fullest.

After the war ended trade had taken a major setback (it had halted completely) which before the war was a major source of revenue for this region apart from the schools which also provided some revenue was hit badly. There was a sense of disharmony among the people and there was very little the local population could look up to, as such the likeminded and influential people form Kalimpong which included Mr. Tashi Pempa Hishey (since the war had ended his duties with the Home Guard continued but took time out for this cause) representing the Bhutias, Mr. Arthur Foning (representing the Lepchas), Dando Rimpoche (representing the Tibetans), Mr. P. R. Pradhan (representing the Nepalese), Mr. Tashi Gompu, Mr. Kazi Dorjee (representing the Dukpa's) and some others to name a few, they came forward under one umbrella and developed a concept of the 'Tourist festival' in Kalimpong. As recalled by Mrs. Yuden Pempa Hishey, the present board member of Dr. Grahams Homes Kalimpong and wife of Late Mr. Tashi Pempa Hishey (introduced earlier), the first tourist festival that was planned by the above mentioned eminent personalities of Kalimpong was held at the school grounds of Dr. Grahams Homes, Kalimpong. She recalls her husband not having to face an uphill task for permission of the school grounds since late Mr. Tashi Pempa Hishey was also the Vice Patron of the School (till his demise), among his other social responsibilities he was an honoree forest officer, an honoree Commandant Home Guards, an honoree Civil Defense officer, Jail Visitor, Municipality Chairman Kalimpong municipality, he was also affiliated to the Red Cross, St. Johns Ambulance, Chartis Hospital Drajeeling, Deshbandhu Chest Clinic, Kalimpong Sports Association, Life member Mahabodhi Association, Trustee at durpin monastery (Zangdophalri monastery) and Tharpa choeling monastery (Tripai Monastery), and also the President of All India Hill Tribal Association Kalimpong to name a few. As such he had very little difficulty in arranging for the venue and bringing together the communities under one umbrella for a social cause.

The tourist festival which began as early as in the year 1964, show caused the ethnic and unique culture of each and every community present in the region, from their food to drinks to their dance and dresses. The Tibetans showed their extravagant divisions in terms of food habits and dresses of different parts of Tibet, their famous mask dance (cham), and the snow lion dance (seng-ae dance) mesmerized the visitors as well as the public. The Nepalese too had their chance to bring forward their different cultural events and food, so did the Dukpas, and the Lepchas. This was for the first time that all communities had come together and worked together which made the festival a success after the Sino-Indian war. It seemed like the local population had overcome the hardships faced by them and some sort of normalcy had returned to this hill region. This tourist festival continued in the town grounds present day Mela grounds in the heart of the town, which was chosen for its proximity to the town and ease of transportation as a lot of people from outside this region were eager to visit Kalimpong to watch this festival. The motive behind this tourist festival of the organizers was to regulate tourist inflow into this sleepy town as Kalimpong had lost its trading glory. And also having lost its major source of income for the common masses this festival would generate some revenue for the local population to survive..

The applauds that were given to this festival were heard even to far off places, beyond the tiny Himalayan nest as the news spread to the metros and even England of this gala yearly event that was taking place in this hamlet, as the voices grew news came of

an invitation to the capital of Bengal. The result was that a troop was called to perform in Calcutta present day Kolkata, in the year 1966 at Fort William premises. The group that was selected for the first performance outside Kalimpong consisted of about one hundred and twenty odd crew and personnel and their luggages and equipments. The travel plans were drawn prior to the day of actual commencement of travel, the reason being due to non availability of direct roads or railway connectivity between Kalimpong and Calcutta. The only route connecting the north of Bengal to its south and central before independence (i.e. before 1947) was through the Harrington Bridge, which was later positioned towards Pakistan after the partition of 1947 to present day Bangladesh. The troupe consisting of participants and their family members as most of their family refused to be parted from their loved ones and some for the sheer excitement of visiting the city for the very first time, made their way by boarding trucks to Siliguri junction towards Sagragalli ghat where they would disembark from the trains and board ferries which would take them over the River Ganga to Manihari ghat from where they would again board a connecting train to Sealdah into Calcutta. Mr. Ian Sarita the Commissioner of Jalpaiguri would help in booking tickets for the train journey and for the drinking water. In sealdah buses were made available by the organizers to transport the troops to their place of accommodations which would be St. James School Calcutta (during the schools winter vacations).

The first performance outside Kalimpong ever since the tourist festival started in the year 1964, took place at Fort William, Calcutta near water gate grounds in the year 1966 in aid of Dr. Grahams Homes, Kalimpong to a packed audience where among many the presence of the Bengal Governor, and General Manekshaw who had allowed permission for the show at the grounds were in the audience. Among the many acts which included Lepcha harvest dance the different cuisines and Nepalese dances, the show which caught the audiences eyes was the performance by Pedong monastery monks accompanied by Dando Rimpoche and the monks of Tharpa Choeling Monastery where they made a spectacular attempt by performing a Cham dance, all performed by the monks themselves for which they later received appreciation from the audience throughout the evening. All tribal dresses and non tribal dresses were showed which prevailed in the region comprising the different sections of the population in Kalimpong. Spectacular lighting effects and the overall help provided to the show made the evening a night to remember as the troop was given an invitation to perform once again in Calcutta. This tourist festival which had started as a local affair was now gaining recognisition to far off places. This nest had now bought about a larger audience in its fold and was ready to spread it boundaries in terms of its specialty and uniqueness. In regards to its repeat performance, second such performance was enacted at Kalamandir, in Calcutta once again in the year 1972. Much to the amusement of the people of Calcutta and the elite, the show had yet again captured the people's minds and hearts. Among some incidents during the festival which any such events do face one does remember when the announcer for this tourist festival was lost and later found after hours of frantic search, the beautiful ladies being lost in the streets of Calcutta when the traffic police of Calcutta had to escort them to the venue and to add ,to the list of incidents a monk of Pedong monastery being locked for the entire duration of the night in the make shift wear house when he had gone to pick up equipments for the show, the main swords man taken ill and being replaced by a junior artist were some of the very few incidents which the organizers had to face.

A lot has to be written about how people of different communities came about and faced the challenges in the times of despair. Here the Buddhists of Kalimpong which included, Tibetans, Lepchas, Bhutias, Dukpas, Tamangs, Limbus, the Nepalese, which included Hindus and Christians, schools and Monsateries all came forward to promote this small hamlet which till today is reeling under basic

necessities of life (electricity, water, roads, etc). This show which showed the cultural diversities of this region and enlightened the rich heritage of all people living in this area for the very first time did face a lot of challenges as in 1968 a major landslide hit Kalimpong which had an impact to infrastructure as all roads leading to Kalimpong had been damaged also causing loss to life and property, even in terms of instruments and funds the organizers faced a big hurdle. It was the Chogyal of Sikkim who had on request made by late Mr. Tashi Pempa Hishey allowed from his royal guards, officers to train the selected students of S.U.M.I. the 'Chabtrung' instrument played by the Limboo's. The funds collected were donated to the Governors funds, Dr. Grahams Homes Funds, Bangladesh war funds, and also paid the troops with some amount of token for their efforts made towards the success of the tourist festival as recalled by Mrs. Yuden Pempa Hishey at her residence where one can still find the facts related to the early days.

In the year 1975 saw the curtains fall on the once so famously recalled tourist festival. Here lack of funds and rising expenditure was given as the main cause of the closure of the tourist festival. This festival had served its purpose of firstly bringing together the different sections of the society under one banner, for a common cause the cause being promotion of the region, bringing a stability in terms of tourist inflow, making aware to the population specially to the younger generation of the region and outside the region their ethnic culture, and vast heritage. This festival also did not discriminate between various sections of the society, as all sections were given due respect and a chance to show their rich culture, it gave them all a platform to perform and excel in days to come as to where they stood and should be standing in the future. It also opened the doors to view the world since people began to travel and explore different boundaries and regions including their own. People from other parts of the world and across India came to know about this particular place when it had become so insignificant. The organizers though mainly Buddhist and one may argue their control over the organization it is no secret that in the time of need they did bring about a hope for this section of the population which was reeling under pressure to perform and bring about a change to the society, for its betterment. This nest of spies did also produce a cluster of well educated; compassionate, socially active people who did want to see the growth in this region and the welfare and development of its society. Following the footsteps of Buddha one can easily put forward the saying “there isn't enough darkness in the entire world to snuff out the light of one little candle”.

References

- Personal Interview with Mrs Yuden Pempa Hishey, Age 84, Kalimpong.
- Jr., Warren W. Smith, Tibetan Nation: A History of Tibetan Nationalism and Sino-Tibetan Relations, New Delhi, HarperCollins Publishers, 1997.
- O'Malley, L S S., Bengal District Gazetters Darjeeling, New Delhi, Logos Press, 1985.
- Foning, A. R. Lepcha My Vanishing Tribe, Kalimpong, Chyu-Pandi Farm, 2003.\
- Wojkowitz, Rene Von Nebesky, Where the Gods are Mountains: Three Years Among The People of the Him alayas, London, Weidenfeld And Nicolson, 1956.
- Bhanja, K. C., Mystic Tibet and The Himalaya, Calcutta, Modern Indian Press, 1948.
- Shakabpa, Tsepon W. D., Tibet A Political History, New Delhi, Paljor Publication Pvt. Ltd., 2001.

Thousands of Candles can be lit from a single candle, and the life of the Candle will not be shortened. Happiness never decreases by being shared

Budhha

Difference in the Philosophies of Theravāda and Mahāyāna Schools of Buddhism

KANIKA KAUR SARAO
Delhi University

In the history of Indian Buddhism, Theravāda and Mahāyāna schools hold great importance and reflect two different philosophies of the teachings of the Buddha. Theravāda school, also known as the “Lesser Vehiscle”, includes the traditional teachings of the Buddha included in the Pali canon. Whereas, Mahāyāna, also known as the “Greater Vehicle”, is said to have been originated after the Second Buddhist Council.Theravāda, also called the Hīnayāna, by the Mahāyānists, obviously do not accept this term as according to them they are the ones following the original teachings of the Buddha. The original meaning of the element hīnais “discarded” or “inferior”. The appellation Hīnayāna thus was a deprecatory term used by Mahāyāna practitioners. It is generally believed that a schism took place about a century after the Buddha's death because of the efforts made by some monks for the relaxationof the stringent rules observed by the orthodox monks. The monks who deviated from the rules were later called the Mahāsa ghikas, while the orthodox monks were distinguished as the Theravādins. It was rather 'a division between the conservative and the liberal, the hierarchic and the democratic'. There is no doubt at all that the Second Buddhist Council marked the evolution of new schools of thought (Bapat 1956: 99).

The basic difference in the philosophies of these schools is that, in Theravāda, the highest goal is to attain nibbāna, becoming an arahatand to be free from the cycle of sa sāra. Whereas, in Mahāyāna, the goal is to follow the path of the Bodhisattva and attain Buddhahood. ABodhisattva does not strive for the attainment of nibbāna. He remains in the cycle of rebirth and in every new birth he dedicates his life to help others to achieve this goal.According to the Mahāyānists, the path leading to Buddhahood was for everyone to read on, not reserved for some special spiritual hero. Their aim was to motivate and encourage others to follow this path and help them towards liberation. Thus, Mahāyāna was concerned with lay people and this world, while the Hīnayāna or Theravāda was a monastic form of Buddhism characterized by withdrawal from everyday world.

Mahāyāna Buddhism has divided the body of the Buddha into three categories: dharmakāya(body of dharma), sa bhogakāya(body of bliss), and nirmā akāya (manifested body). Though they portrayed the Buddha as conforming to the worldly ways but he is not basically affected by them. He does not feel fatigue or pain, his struggle to attain enlightenment was a motivational tool for others to get inspired and to show that anything can be achieved through hard work and dedication, even the Buddhahood. The Buddha's life on earth was simply a manifestation of an unchanging, transcendent, and eternal body of truth, the Dharmakāya. On the other hand, the Theravādins considered the human nature of the Buddha who is also subject to human weaknesses though they recognized him as possessing certain superhuman qualities.

The teachings of the Buddha for Theravāda School were simple as the monks were supposed to practice the Sīla, Samādhi and prajñā. Sīla or good conduct is necessary for a householder. He

should abstain from murder, theft, falsehood, wrong sexual behaviour, all intoxicating drinks, greed, ill-will, and wrong philosophical views. Samādhi or meditation should be practised to keep one's mind perfectly balanced so that it may be possible to gain a proper insight into the real or actual nature of things of the universe. Prajñā helps one to understand the Four Noble Truths, i.e. Suffering, Cause of suffering, Cessation of suffering, and the path leading to cessation of suffering. It also helps in understanding the interrelation of things that one action leads to another i.e. Dependent Origination. One of the main teachings followed by this school is that everything is aniccaor impermanent and transient. All these practices are aimed towards attaining nibbāna and becoming an arahat.

The teachings for the Mahāyāna school were concentrated on attaining Buddhahood, and the way to this high goal is the path of the bodhisattva which takes many many lives of selfless striving. In the Mahāyāna perspective, Gautama is referred to as Sākyamuni Buddha and is seen as an omnipresent, eternal being, watching over the world and supremely worthy of worship. While he is seen as enlightened for a hugely long length of time, however, the idea is still expressed that he became a Buddha by practising the bodhisattva-path, starting out as an ordinary being (Harvey 2001: 105). Predictions of Buddhahood are an important element in Mahāyāna thought, as we have already observed while studying the biographical sources. Dīpa kara's prediction of Sākyamuni's Buddhahood is mentioned often in Mahāyāna scriptures. According to these scriptures, after he received Dīpa kara's prediction, the future Buddha practised the six perfections. The list of ten perfections mentioned in the Nidānakathā, is probably a later expansion of these six perfections (Hirakawa 1990: 266).The authors of the biographies of the Buddha thus devised the six perfections to describe the unique practices that would lead to Buddhahood, practices that differed considerably from that of the Theravādins.

An important point to discuss is that Nikāya Buddhism focussed on the Dharma rather than the Buddha and consequently emphasized monasticism and rigid adherence to the precepts. For them, the Buddha had traits of superhuman but was not above the Dharma. In contrast, Mahāyāna Buddhism was originally concerned with laymen. Doctrines for lay bodhisattvas play a prominent role in the oldest Mahāyānasūtras. Laymen were unable to strictly observe the precepts, and thus could not put the Buddha's teachings into practice in the traditional ways. Instead, they had to depend on the Buddha's compassion for their salvation. While monastic Buddhism emphasized the Buddha's teachings, lay Buddhism emphasized the role of the Buddha in salvation (Hirakawa 1990: 270). A Buddha of the Theravāda tradition would have a limited, though huge life span, but a bodhisattva of the Mahāyāna tradition would remain in closer contact with the suffering beings, helping them till the end of time. It was felt that for the development of the Doctrines of Mahāyāna, there was a need for such centres where the teachers could transmit the knowledge to the students of the next generation. The centres of the monastic order were not suitable because in that case, Mahāyāna followers would have to listen to the monks. Thus, centres independent of monastic control must have existed where people could practice and develop teachings which could lead them towards the path of Buddhahood and they could also pass on these teachings to younger generations. Such centres called stūpas came into existence. Thus, after the Buddha's death, the first stūpas were built at few places which were protected and maintained by laymen, and laymen paid homage to them. Archaeological investigations of the ruins of many of the older surviving stūpas have revealed that their oldest strata probably date back to King Asóka's time. The cores of the stūpas of central India at Bharhut and Sāñci and the Dharmarājikastūpa at Taxila are all very early, with their oldest layers dating back to the second or the

third century BCE (Hirakawa 1990: 271). By the beginning of the Common Era, stūpa worship became popular, many more stūpas were built at various places. Some were even built on the grounds of the monasteries, may be as a result of the growing popularity of the Buddha worship outside the monastery.

An important aspect of this discussion on the Theravādaand Mahāyāna traditions is the role of women in these schools. Before the rise of the Mahāyāna school of thought, the role of women in the Buddhism was identified as women being the nuns. They had to follow certain special rules set by the Buddha in order to become a nun and strive to attain nirvā a. Having said that, the nuns were not seen as equals to the monks. In fact, the Buddha himself did notimmediately welcome the idea of a parallel women's order. Also, he did not encourage women to be equal to men in their unconventionality and counter-cultural activities (Harvey 2001: 209). The possible reason behind this could be that the Buddha felt that if suddenly women were allowed to renounce their domestic roles, how the householders and their children would survive without the women of the house, or maybe he was worried about the interactions that might take place between the monks and the nuns.However, many women became nuns in that period and their stories and poems are collected in one of the most remarkable and well known text of Theravāda tradition called the Therīgāthā.

Little is available in terms of historical records on women's role in the Mahāyāna Buddhism, but there is an indication that there was not much change for women in this form of Buddhist tradition than in the older forms of Buddhism. However, the literature of Mahāyāna school of thought includes a wide variety of opinions about the women participation in the core traditions.Thus, to conclude, it may be said that the origins of Mahāyāna are complex, but it was not a sectarian literature disseminated by one of the existing schools, nor did it lead to the development of a formal division of the Sa gha. Mahāyāna is very diverse. It is united perhaps solely by a vision of the ultimate goal of attaining full Buddhahood for the benefit of all sentient beings, and also a belief that Buddhas are still around and can be contacted. There may be many differences between both the schools but both aim to spread and follow the teachings of the Buddha.

Bibliography

- Bapat, P.V. (ed.). 1956. 2500 Years of Buddhism, New Delhi: Govt. of India Press and the Photo-Litho Press.
- Harvey, Peter. (ed.). 2001. Buddhism, London and New York: Continuum.
- Hirakawa, Akira. 1990. A History of Indian Buddhism: From Sâkyamuni to Early Mahāyāna.
- Translatedby Paul Groner, Hawaii: University of Hawaii Press.
- Williams, Paul., and Tribe, Anthony. 2000. Buddhist Thought: A complete introduction to the
- Indian tradition, London and New York: Routledge.

आपके पास जो कुछ भी है,

उसे बढ़ा-चढ़ा कर मत बताइए,

और ना ही दूसरों से ईर्ष्या कीजिये।

जो दूसरों से ईर्ष्या करता है उसे मन की शांति नहीं मिलती

भगवान गौतम बुद्ध

THE ROLE OF BUDDHIST MORALITY IN MENTAL TRAINING & SPIRITUAL ATTAINMENT

DR. SEEMA BHARTI
Delhi University

In its widest sense the term 'ethics' would imply a critical study of the general characters and habits of mankind. The subject matter of ethics is human character and conduct. Ethics is usually confined to the particular field of human character and conduct, so far as they depend upon or exhibit certain general principles commonly known as moral principles. The terms "moral" and "Ethical" are often used as equivalent to "right" or "good" and as opposed to "immoral" or "unethical".[1]

Moreover, "good" and "evil" in Buddhism are seen not as absolute but relative or "rational". The good or evil of an act is understood in terms of its actual impact on our lives and the lives of others, not on abstract rules of conduct.

It is mentioned in the Sangīti-Sutta of Dīgha Nikāya that - 'There are three roots of the unwholesome : greed, hatred, and delusion; and there are three roots of the wholesome: non-greed, non-hatred and non-delusion'.[2]

The words 'unwholesome' and 'wholesome' as used here, are renderings of the Pāli terms 'akusala' and 'kusala', respectively. On the basis of roots (hetu) it is classified in two parts, namely sahetuka-citta (the consciousness associated with roots) and ahetuka-citta (the consciousness dissociated with roots). The hetu plays a great role in the functioning of consciousness as it is the underlying source of motivation. Therefore it may be said that "everything is regulated by the consciousness."[3]

In Pāli Buddhist scriptures, the Buddha essentially equates intension and action. An ethical and unethical action is however, more than a physical or mental deed. Any action involves three aspects : thought, word and deed. Each of these aspects produces kammic results. Action affects our consciousness, which in turn determine the type of person. The law of kamma is based on our deeds during life and in prior lives determines our future destiny. To grasp this from a Buddhist point of view, it is beneficial to think of a deed as a seed that we create. This seed eventually ripens and gives rise to fruit.[4]

It is said by Buddha in Dhammapada - "It may be well with the evil-door as long as the evil ripens not. But when it does ripen, then the evil-doer sees (the painful result of) his evil deeds" and "it may be ill with the door of good as long as the good ripens not. But when it does ripen, then the doer of good sees (the pleasant results of) his good deeds."[5]

The rules of conduct or ethical practice lies under the moral precept called Sīla. Sīla may be defined as moral habit, a virtuous behaviour, good nature and character. Sīla is based on love and compassion. In Visuddhimagga[6], Sīla is interpreted in three ways, namely - Sīla a-atthena (foundation stone), Sītala-atthena (calming down) and Sira-atthena (acting as forerunner).

A second classification of Buddhist ethics mentions a set of eight precepts, which are - (1) - (5) of Pañcasīla which are mentioned above and rest are as follows - (6) vikāla-bhajanā-veramanī (not eating at

the wrong time); (7) nacca-gīta-vādita-dassanā-sikhhapada (to avoid dancing, singing, playing music and seeing shows; (8) māla-gandha-vilepana-dhāra a-mandana-vibhusana-tthānā-sikhāpada (abstinence from adoring and beautifying the person by use of the garlands, perfumes and from using a high or large conch or seal).[7]

Psychology demands that mental discipline will embrace the whole nature of man in its threefold aspect of knowing, desiring, and willing. Bearing in mind this idea of moral unity of man's life helps us to know the functions of mind. Mind should be fully disciplined through the discipline of intellect, will and emotion.[8]

By mental training we mean that one should control the fickle mind or the object of thought through constant practice of Buddhist ethical code. The Buddhist disciples have to guard and control their sense-organs, so that evil, unfavourable states of mind do not predominate. The next thing is to keep active vigilance on mind to purify it from obstructive thought. The disciple should be able to get rid of these five hindrances namely - (1) Kāma Chand; (2) Vyāpāda; (3) Thīna Middha; (4) Uddhacca Kukkuccha; (5) Vicikicchā (lustful desire, ill-will, hatred, languor, restless and worry and skeptical doubts). These hindrances are spoken of as defilements of the mind and as source of weakness in intuition-wisdom. When they have been got rid of, the disciple can enter on the higher meditative process which is specifically psychological in nature and belongs to the mind.[9]

It is said that persons who are spiritually self-controlled must enjoy great bliss. If his morality is not preserved well, the concentration of the mind will not be attained. Without concentration knowledge and insight will not be attained. If these are not attained, freedom from human passions will not be attained. If this is not attained, emancipation, knowledge and insight will not be attained. So we should be fully self-restrained, mentally as well as physically.

Concentration is essential to attain ethical purity and to control the mind from worldly attachment. We must understand the mind, destroy its evil properties, battle with it and gain victory over it. The inner war with the mind is more terrible than the outer war with the machine guns. Conquest of mind is more difficult than the conquest of the world by force of arms. Love, truth and purity form the foundation of the edifice or divine life. The temple of divine life has four pillars - meditation, purity, love and righteousness. The aspirant starts upon his spiritual life with certain definite self-formed ideas about meditation. We should fix our mind firmly upon the ideal to be attained. Buddha teaches us that we should placed before the mind the fruits of self-realization, eternal peace, supreme bliss, infinite knowledge. Aha kāra has its seat in mind. It is under the influence of egoism that man commits evil and wrong actions. It is deep rooted. The Buddhist adopts always tries to uproot Aha kāra from the mind and cleans his mind from all types of egoism.

Mind is the most important object of restraint. If the mind is restrained well, the five other sense-organs will be restrained. It must be calmed, tranquillized and brought to a fixed state. No evil objects will perturb a trained mind. So it is called Vimutta Citta (the mind which is emancipated). It means the mind has acquired complete liberty. A person of self-control never loses his consciousness in whatever situation he may be. The Buddha says : "Therefore, O Monks, you ought to maintain yourself as follows : My inner mind will be fixed, perfectly fixed and no sinful, evil objects which arise will take hold of it."[10]

The Pāli scriptures emphasizes that the disciple should develop the following seven methods which lead to enlightenment[11] :-

(1) The four station of mindfulness (Cattāro-satipa hanā).

(2) The four right efforts (Cattāro-sammppaddhāna).

(3) The four bases of psychic power (Cattāro-iddhipāda).

(4) The five faculties (Pañca-indriyāni).

(5) The five powers (Pañca-balāni).

(6) The seven constituents of enlightenment (Sattava-bhojjanga).

(7) The Noble Eightfold Path (Ariyo-atthāngiko-maggo).

To attain the highest path of morality right view of understanding (Sammā-Ditthi) is plays an important role. Right understanding is the understanding of the reality of existence or the nature of the existence. Seeing things is not merely real, i.e. understand them as they are impermanent (anicca), unsatisfactory (dukkha), and non-substantial (anattā).

Right understanding means the understanding the law of moral causality, the roots of meritorious and demaritorious action. In the Anatta Lakkhana sutta of Sa yutta Nikāya it is mentioned that when one understands that body, sensation, perception, the mental aggregates and consciousness are all impermanent, one possess the right understanding. The noble discipline who is mentally cultured or disciplined, is able to understand unrighteous action and root of unrighteous action, right action and the root of right action. However, ignorance clouds one's knowledge and it is known as a root that kinds man to the conditioned existence of Sa sāra.

In the course of meditation the disciple's mind is to be fully disciplined which help to get enlightenment. The word 'meditation' is very substitute for the original term 'Bhāvanā, which means culture, development or mental culture, mental development or mental discipline. It aims at cleansing the mind of impurities and disturbances such as, lust, hatred, ill-will, indolence, worries, restlessness, skeptical doubts etc. and culminating such qualities as concentration, awareness intelligence, will, energy, the analytical faculty, confidence, joy, tranquility, leading finally to the attainment of highest wisdom which sees the nature of things as they are and realizes the ultimate truth, Nirvāna.

References

1 Frankena, William, K., *"Ethics"*, University of Michigan, U.S.A, 1963 : 5.
2 Dīgha Nikāya, I . P-33.
3 Pandey, Dr. Satyendra, *"Abhidhamma Philosophy"*, Indo Asian Publishing House, Delhi : 20.
4 A guttara Nikāya, III,P.415 . (Tr. By E.M. Hare Vol-III,IV : The Book of Gradual Saying. London: PTS ,1955-1990).\ Dhammpada, VV ,119-120.
5 Visuddhimagga, I ,pp. 5-6. (Tr. by Ñānāmoli, Bhikkhu, The Path of Purification, Singapore Buddhist Meditation Centre, 1997).
6 A guttara Nikāya, IV, p. 248; A.N. p. 254; (Tr. By E.M. Hare).
7 Suttanipāta. VV, p. 400-401. (Tr. by K.R. Norman: The Group of Discourses, London:PTS .1984).
8 Pathak, Mandar Nath, *"Human Life and Teachings of Buddha"*, Antique Pub., New Delhi, 1988, 53.
9 Rahul, Walpole, *"What the Buddha Taught"*, I.N.C, New York, 1962 : 74. (DN-I, P-2.)
10 Anguttara Nikāya, IV, p. 299. (Tr. by E.M. HARE).
11 Majjhima Nikāya, II, p. 10. (Tr. by I.B. Horne : The Collection of Middle Length Sayings, PTS, 1954-1959).

सुखो बुद्धानं उप्पादो सुखा सुद्धम्मदेसना।
सुख संघस्स सामग्गी समग्गानं तपो सुखो।।

सुखदायक है बुद्धों का जन्म, सुखदायक है सच्चे धर्मका उपदेश, संघ में एकता सुखदायक है और सुखदायक है एकत्रायुक्त हो तप करना।

The Status of Dalit Women in India's Caste Based System

RACHNA
(Research Scholar)
Department of Buddhist Studies
University of Delhi

Through this article the researcher has tried to throw light on the devastating effects of the caste system on the educational, social, and economical status of Dalit women in modern India. The motive is not to hurt the sentiment of any reader rather to highlight the harsh reality of the suppression, struggle and torture of Dalit women which they faces in their day to day life and are forced to live miserable life. It is to be note here that hardships of Dalit women are not simply because of poverty, economical status, or lack of education, but due to direct result of the several exploitation and suppression by the upper classes, which is legitimized by number of Hindu religious scriptures. Despite this exploitation we come across many brave Dalit women who being quite aware of the horrifying truth and heavy odds still strive to put an end to their suffering. In doing so they certainly ensured a brighter future for the generations to come. Ruth Manorama, an active member of the National Campaign on Dalit Human Rights and the National Alliance of Women once stated that in male dominated society, "Dalit women face a triple burden of caste, class and gender" in which she sums up the plight of Dalit women, highlighting the fact that Dalit women are a distinct social group and cannot be masked under the general categories of "Women" or "Dalits".

In Ancient India (3200-2500 BCE), the caste system was non-existent since even the most learned men were good householders and had varied occupations. The women of ancient India were just as superior as men in learning and intellect. The choice for her mate was according to her own wishes and marriage was practiced after the coming of age. She used to attend parties, competitions, and religious ceremonies, if she wishes to do so. The remarriage of young widows was also a common practice.

The creation of number of Hindu religious texts such as Manusmriti, Atharva Veda, Vishnu smriti, Purush Sukta etc. and their strict compliance by the Brahmans led towards inequality and discrimination between men and women especially towards the lower castes generally termed as Sudras or Dalits. This fact gets more evident by the Dr. B. R. Ambedkar's remarks in his famous article “The rise and fall of Hindu Woman” that the root cause of suffering for women in India are these so called Hindu religious texts especially Manusmriti. It divides people into a stratified caste system and promotes inequality between men and women. According to the Manusmriti, women have no right to education, independence, or wealth. It not only justifies the treatment of dalit women as a sex object and promotes child marriage but also justifies number of violent punishments on women as can be seen in the following verses.

A man, aged thirty years, shall marry a maiden of twelve who pleases him or a man of twenty-four a girl of eight years of age. If his duties would otherwise be impeded, he must marry sooner.' (ManusmitriIX.94)

'By a girl, by a young woman, or even by an aged one, nothing must bedone independently, even in

her own house.' (ManusmritiV.147)

'Her father protects (her) in childhood, her husband protects (her) inyouth, and her sons protect (her) in old age; a woman is never fit for independence.' (ManusmritiIX.3)

'Women have no right to study the Vedas. That is why their Sanskarasare performed without Veda Mantras. Women have no knowledge ofreligion because they have no right to know the Vedas. The uttering ofthe Veda Mantras is useful for removing sin. As women cannot utter theVeda Mantras, they are as unclean as the untruth.' (ManusmritiIX.18)

'A Brahman, Kshatriya, or Vaishya Man can sexually exploit any shudra woman.' (ManusmitriIX.25)

Even the killing of a dalit woman is clearly justified as a minor offence for theBrahmins: equal to the killing of an animal (Manusmitri). If the killing of anuntouchable was justified as a minor offence, you can imagine the treatment theyreceived throughout their lives.

In a male dominated society, Dalit women suffered unbelievable oppression, not only through caste, but gender too, from which there was no escape. The laws in the Manusmritiand other Vedic scriptures close all economic, political, social, educational, and personal channels through which Dalit women could be uplifted. The horrendous Laws in the Manusmritiwere incorporated into Hinduism because they were favourable only to the Upper castes, which form the majority of India. Even today, in modern times, we see the severe oppression and exploitation of Dalit women. The Laws of the Manusmriti have a devastating effect on the level of education reached by Dalit women.

The main reasons for the very low literacy rate among Dalit women as analyzed by the researcher are:

- The Lack of educational resources especially in rural areas.
- Privatization of schools and colleges.
- Orthodox mentality.
- The demand for an increase in the Dowry for educated girls and Humiliation and Horrifying by the upper caste.

Dalit women are educated; the fate of the majority is very formidable. When the Dalit women refuse to work for ridiculously low wages or fail to follow their harsh orders it results open violence, humiliation, beatings, rape, and jail. There are also a number of cases where the houses of Dalit women have been burnt down.

In one particular case a four months conceived agricultural labourer, from the southern part of India was stripped naked and beaten along with her family in front of the whole village by the upper caste landlord. Later, she was retained in jail, where the police also tortured her. This resulted in the miscarriage of her baby. In another case, some girls are committed to suicide because of harassment.

There are many more such cases which cannot be discussed here. The worst exploitation of dalit women involves a lifetime of suffering, torture, and rape. Justified by the Vedic scriptures, the Devdasi system (also known as temple prostitution) was introduced by the High caste Hindus, and it still exists in some parts of India. These girlsare called the “female servants of god” and are sexually exploited.After a lifetime of living as a prostitute and servant, the women in their later yearsare sold to brothels, where they are further tortured and often die of neglect. The Devdasi system and Child marriage are alsojustified by Hindu Scriptures.

After sixty-eight years of India's independence and despite the excellent laws in place to protect Dalit women, they are still suffering unimaginableatrocities from the high caste Hindus. It is believed that thousands of these casesgo unreported and

unpublicized because the poor Dalits that live in rural areas,who are the worst victims, have no control on power, wealth, justice, police andthe media. The only way these Dalit women can escape the viscouscycle of poverty, abuse and oppression is through education. Through educationmore Dalit women can come to know their basic human rights and they can thenraise an even stronger voice against abuse and exploitation from the upper castes.

Many Dalit Non-Government Organizations (NGO's) both in India and abroad have been involved in raising the plight of India's untouchables. One of the most important tasks of these Dalit NGO's is to bring the plight of Dalit people to the attention of the International community and todocument and publicize human right violations. Such Dalit women abandon tears and embrace the shield of confidence inthe hope of equality. The courage, struggle, and persistence of today's Dalit women against suppression, exploitation and torture has the power to ensure that the future generations will not have to face the bleak reality Dalits have faced for the past two thousand years. The caste system is truly a crippling disease to approximately 300 million Dalits in India today.

Many of the Dalit NGO's are involved in establishing schools, scholarships, and basic supplements to Dalits in the rural parts of India. NGO's such as the Ambedkar Centre for Peace and Justice and the National Campaign on Dalit Human Rights are involved in bringing the plight of the Dalit people to the attention of the international community and to document and publicize human rights abuse. The longterm objectives are to enfranchise Dalits as full citizens of the society with all equal right and dignified living vis-à-vis elimination caste-based torture and discrimination.

References

1. Irudayam Aloysius, Dalit Women Speak Out: Caste, Class and Gender Voices in India, New Delhi: Zubaan India, 2011.
2. Irudayam Aloysius, ManhubhaiJayshree P.; Lee Joel G., Dalit Women Speak Out: Violence against Dalit Women in India, New Delhi (NCDHRI): National Campaign on Dalit Human Rights, India, 2006.
3. Mittal Mukta, Dalit Women in India, New Delhi: Arise Publication, 2010.
4. Narula. S.,Broken People: Caste Violence Against India's "Untouchables," London: Human Rights Watch, 1999.
5. Manu,Manu Smriti: The laws of Manu with the Bhasya of Medhatithi, Translated by Ganga NathaJha. University of Calcutta, India, 1920.

सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ॥1॥

दण्ड से सभी डरते हैं, मृत्यु से सभी भय खाते हैं,
अपने समान (इन बातों कोद्ध जानकार न किसी को मारे, न मारने की प्रेरणा करे।

सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बेसं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कृत्वा न हनेय्य न घातये ॥2॥

सभी दण्ड से डरते हैं, सबका जीवन प्रिय है,
(इन बातों कोद्ध अपने समान जान कर न किसी को मारे और न मारने की प्रेरणा करे।

बाबा साहब के अनमोल वचन

धर्म सदाचार है जिसका अर्थ है
जीवन के सभी क्षेत्रों में मानव–मानव के बीच शुभ सम्बन्ध।

प्रत्येक व्यक्ति का मूल्यांकन उसके गुण,
न कि जन्म, के आधार पर होना चाहिए।

यदि आप पूछते हैं तो मेरा आर्दश समाज वह होगा जो स्वतन्त्रता,
समता तथा भ्रातृभाव पर आधारित हो।

हमारा महान् कर्त्तव्य है कि हम प्रजातन्त्र को जीवन–सम्बन्धों के मुख्य सिद्धान्त के रूप में समाप्त होता हुआ न देखें। हम प्रजातन्त्र में विश्वास करते हैं तो हमें इसके प्रति सच्चा एवं वफादार होना चाहिए।

प्रजातन्त्र केवल सरकार का रूप नहीं है। यह मुख्यतः एक सङ्गठित रूप से रहन–सहन का ढङ्ग है। यह अनिर्वातः अपने साथ रहने वाले मनुष्यों के प्रति मान सम्मान करने का एक ढङ्ग है।

यदि हम लोग अपनी एक सामान्य संस्कृति को सुरक्षित रखना चाहते हैं
तो हम सब लोगों का कर्त्तव्य है कि हिन्दी को
अपने राष्ट्र की एक राज्य भाषा मानें।

प्रत्येक नागरिक अपने आपको सबसे पहले, और अन्त में भी,
भारतीय समझे ताकि राष्ट्रीय एकता कायम रहे।

अपनी दासता स्वयं मिटानी है। शिक्षा,
संगठन एवं संघर्ष इसके लिए, मूल–मंत्र हैं।

स्वतन्त्रता एवं मानवाधिकार किसी को उपहार के रूप में नहीं मिलते;
उसके लिए संघर्ष किया जाता है।

मुझे साहित्यकारों से अपनी सारी शक्ति लगा कर कहना है कि .....
अपनी लेखनो का प्रकाश अपने आंगन में ही न रोक लें, उसका तेज़
गांव–गांव के गहन अन्धकार को दूर करने के लिए फैलने दें

बौद्ध धर्म तीर्थ स्थल

बुद्ध का जन्म स्थल – लुम्बनी

धम्मचक्क पवत्तन – सारनाथ

धमेख स्तूप – सारनाथ

प्रथम बौद्ध संगीति – राजगिरि

अशोक स्तम्भ – वैशाली

26 वर्षावास – श्रावस्ती

विश्वविद्यालय – नालन्दा

बुद्ध का महापरीनिर्वाण चेत्य – कुशीनगर

महापरीनिर्वाण – कुशीनगर

पूर्व प्रधानाचार्य
माननीय श्री यशपाल सिंह कौठारी
कौठारी जी ने बोधि पथ पत्रिका के पुण्यमय कार्य के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग दिया, साधूवाद के पात्र हैं।

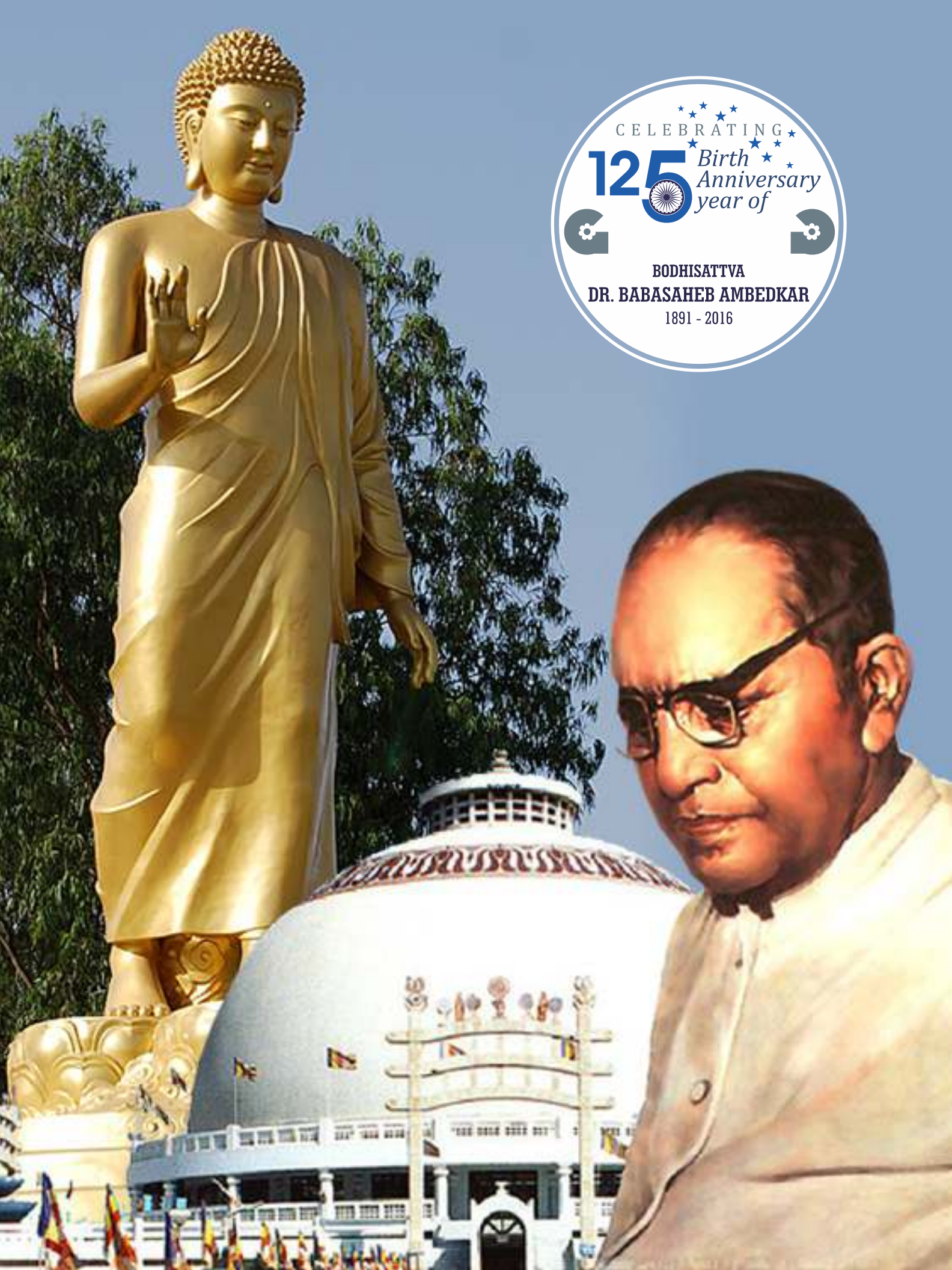
CELEBRATING
125
Birth
Anniversary
year of
BODHISATTVA
DR. BABASAHEB AMBEDKAR
1891 - 2016